RNI क्र. 50309/85 डाक पंजीयन क्र. म.प्र. / 261 / भोपाल / 2012-14 प्रकाशन तिथिः 1 नवम्बर 2014

बाल विज्ञान पत्रिका अक्टूबर-नवम्बर 2014

# चकमक

कपास के फूल
(भीतरी कवर पर)

मूल्य ₹ 75

# कपास के फूल

केदारनाथ सिंह

आदमी ने ही खोजा होगा
पृथ्वी पर पहला कपास का फूल

पर पहला झिंगोला
कब पहना उसने
पहले तागे से पहली सुई की
कब हुई थी भेंट
यह भूल गई है हमारी भाषा
जैसे अपनी कमीज़ पहनकर
भूल जाते हैं हम
अपने दर्ज़ी का नाम

पर क्या कभी सोचा है आपने
वह जो आपकी कमीज़ है
किसी खेत में खिला
एक कपास का फूल है
जिसे पहन रखा है आपने

जब फुर्सत मिले
तो कृपया एक बार इस पर सोचें ज़रूर
कि इस पूरी कहानी में सूत से सुई तक
सब कुछ है
पर वह कहाँ गया
जो इसका शीर्षक था।

(कपास के फूल कविता का एक अंश)


बाल विज्ञान पत्रिका
# चकमक
अंक 337-8 अक्टूबर नवम्बर 2014


इस अंक में


| | |
|---|---|
| 4 | बोली रंगोली |
| 6 | स्वाद |
| 10 | एक था हाजी एक था नाजी |
| 12 | डिबिया |
| 16 | पहेलियाँ |
| 19 | जब एक लड़की जीतती है ... |
| 20 | भगोड़ा चक्रवात |
| 25 | हमारे खेल मास्साब! |
| 28 | चित्र में आवाज़ाई |
| 32 | बुलबुले कैसे बनते हैं? |
| 34 | बोली रंगोली |
| 38-94 | तुम्हारे चित्र शब्द हमारे |
| 95 | चित्रपहेली |
| 96 | एक बात कहो |

हाशिए के चित्र
विष्णु चिंचालकर के
साप्ताहिक अखबारी स्तम्भ
- खेल खेल में - से

आवरण चित्र
तापोषी घोषाल

**सम्पादन**
सुशील शुक्ल
शशि सबलोक

**सहायक सम्पादक**
कविता तिवारी
मिताली अहीर

**विज्ञान सलाहकार**
सुशील जोशी

**डिज़ाइन**
दिलीप चिंचालकर

*लम्बी-चौड़ी चौरस गोल*
*खोल कोई तो खिड़की खोल*
*बारिश में इसके शीशों पर*
*बूँदें लिख जाती हैं बोल*

*- गुलज़ार*

प्रिय दोस्तो,

इस अंक में तुम्हारे चित्रों पर जाने-माने रचनाकारों की, चिन्तकों की 52 टिप्पणियाँ हैं। इन सभी रचनाकारों के आत्मीय सहयोग के बिना यह अंक सम्भव नहीं होता। सोचते थे कि चित्रों पर केन्द्रित सामग्री के अलावा तुम्हारे लिए दो पूरे अंक इस विशेषांक में सलामत रहें। पर वित्तीय सीमाओं आदि की वजह से यह अंक 96 पन्नों तक ही फैल पाया।

इस विशेषांक की शेष सामग्री दिसम्बर अंक में देखोगे। इस अंक पर तुम्हारी राय, सलाहों का हमें इन्तज़ार रहेगा।

चकमक

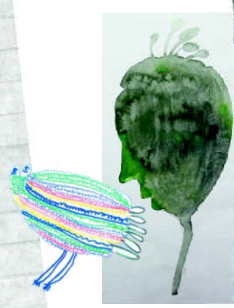

चित्रः अतनु राय

विप्रो एप्लाइंग थॉट इन स्कूल्स के वित्तीय सहयोग से विकसित

**वितरण**
झनकराम साहू

**सहयोग**
वरुण ग्रोवर
प्रभात
मिहिर
कमलेश यादव

**सदस्यता शुल्क**

| | | |
|---|---|---|
| एक प्रतिः | 30.00 | (व्यक्तिगत) |
| | 50.00 | (संस्थागत) |
| वार्षिकः | 300.00 | (व्यक्तिगत) |
| | 500.00 | (संस्थागत) |
| तीन सालः | 800.00 | (व्यक्तिगत) |
| | 1350.00 | (संस्थागत) |
| आजीवनः | 4000.00 | (व्यक्तिगत) |
| | 6000.00 | (संस्थागत) |

सभी डाक खर्च हम देंगे। चन्दा (एकलव्य के नाम से बने) मनीऑर्डर/चैक से भेज सकते हैं। भोपाल के बाहर के चैक में 80.00 रुपए अतिरिक्त जोड़ें।

**एकलव्य**
ई-10, शंकर नगर, बीडीए कॉलोनी, शिवाजी नगर, भोपाल, म.प्र. 462016
फोनः (0755) 4252927, 2550976, 2671017
फैक्सः (0755) 2551108
e mail - chakmak@eklavya.in
e mail - circulation@eklavya.in
www.chakmak.eklavya.in
www.eklavya.in

बालूँगोली

## पहले पाँच

दोस्तो,

तुम्हारे चित्र तो उम्मीद से ज़्यादा मिले। लगभग 1100 चित्र। पर ज़्यादातर में खिड़कियों के ही चित्र थे। पर खिड़की क्या दिखा रही है यह कम चित्रों में था।

तेनजिंग लाड्रोन,
आठवीं, झाम्ट्से गट्सल स्कूल,
तवांग, अरुणाचल प्रदेश

लम्बी-चौड़ी चौरस गोल
खोल कोई तो खिड़की खोल
बारिश में इसके शीशों पर
बूँदें लिख जाती हैं बोल

- गुलज़ार

मोहम्मद इफ्तिखार, आठवीं, न्यू अपोस्टोलिक स्कूल, औरंगाबाद, महाराष्ट्र

गुलज़ार साब के पसन्दीदा पाँच चित्र पेश हैं। इन सभी को उपहार में चकमक की एक साल की सदस्यता मिलेगी। बारह चित्र और भी हैं जो हमें पसन्द आए। (पेज 34-35) अगले अंक यानी दिसम्बर को ये साल पूरा होगा और ये सीरिज़ भी।

हरनूर सिंह, चौथी, डीपीएस, लुधियाना

हर्षिता पाठक, दसवीं, आनन्द विहार स्कूल, भोपाल

तो दिसम्बर की कविता सुनोः

*आधे पौने पूरे चाँद*
*जितना था सब माल गया*
*बारह महीने जमा किए थे*
*जेब काट के साल गया*

\- गुलज़ार

तान्या साहू, छठी, आनन्द विहार स्कूल, भोपाल

हो सकता है बड़े तुम्हें इसके अर्थ बताएँ। उनके अर्थ सुनो-समझो पर चित्र अपने मन का ही बनाओ...। कोशिश करना कि तुम्हारा चित्र हमें 20 नवम्बर तक मिल जाएँ। चित्र के साथ अपना पता, कक्षा, फोन नम्बर ज़रूर लिखना।

हमारा पता है - चकमक,
एकलव्य,
ई-10, शंकर नगर, शिवाजी नगर,
भोपाल -16
(फोन - 09425010115)

# स्वाद

उदयन वाजपेयी

**हर** मनुष्य का स्वाद का अनुभव अलग होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सारे लोगों का स्वाद एक-दूसरे से बिलकुल अलग हो। इसका अर्थ यह है कि हरेक के स्वाद का अनुभव एक-दूसरे से थोड़ा-थोड़ा अलग होता है। यह कहा जा सकता है कि स्वाद हमारे अकेलेपन का एक और उदाहरण है। आप कभी किसी के स्वाद की नकल नहीं कर सकते। जो कुछ किसी दूसरे व्यक्ति को बहुत अधिक स्वादिष्ट लगता है, हो सकता है वह तुम्हें उतना स्वादिष्ट न लगे, या तुम्हें स्वादिष्ट ही ना लगे। आप जिस तरह किसी और की वेशभूषा की नकल कर सकते हैं, उसके बनाव-सिंगार की, वैसी नकल स्वाद की नहीं की जा सकती। अगर कोई स्वाद की नकल करता है, वह फिज़ूल अपने को तकलीफ देता है। स्वाद का सत्य हर मनुष्य के लिए खास होता है। शायद हम यह कह सकते हैं कि यह एक ऐसा अनुभव है जो हर मनुष्य के विशिष्ट सत्य को प्रकट करता है। जब बच्चा बड़ा हो रहा होता है, वह धीरे-धीरे अपना वही खास स्वाद खोज रहा होता है जो उसे पसन्द आनेवाला है। कई बार ऐसा नहीं भी हो पाता, तब वह बच्चा बड़ा होता हुआ मन मारकर कुछ ऐसी चीज़ों को खाना शुरू कर देता है जो उसे बहुत स्वादिष्ट भले ही न लगती हों पर कुछ स्वादिष्ट अवश्य लगती हैं। कई बार बच्चों पर खास चीज़ें खाने के लिए दबाव डाला जाता है। बच्चे को सिर्फ तरह-तरह की खाने की चीज़ें, जो स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अच्छी हों, देना चाहिए और फिर यह बच्चे पर छोड़ देना चाहिए कि

## गंध

*कई बार ऐसा होता है: आप किसी रात सड़क पर चले जा रहे हों और अचानक हवा का एक झोंका कहीं से आता है और आपको किसी भीनी गन्ध की चादर ओढ़ा जाता है। आप गन्ध के अनुभव में डूब जाते हैं। यह सोचते तक नहीं कि हवा का यह झोंका न जाने कितनी दूर से चला आ रहा है। उन फूलों का क्या रंग था जिन्होंने गन्ध की उस झीनी चादर को रेशा-रेशा बुना था।*

*(चकमक - मई 2011)*

उसे क्या खाना है। गन्ध और स्वाद, ये दोनों ऐसे अनुभव हैं जो आमतौर पर एक साथ रहते हैं। कह सकते हैं कि ये दोस्त हैं। अगर किसी खाने की चीज़ की गन्ध या महक अच्छी है, हम यह मानकर चलते हैं कि उसका स्वाद भी अच्छा ही होगा। ऐसी खाने की चीज़ों को खाना मुश्किल होता है जिनकी गन्ध खराब हो। हम खाने को जीभ से चखने से पहले ही एक तरह से नाक से चखते हैं, फिर खाने की महक के सहारे ही खाना खाते हैं। यही बात खाना पकाने के लिए भी सही है। खाना पकाते समय यह पता करने कि वह ठीक-ठाक पक रहा है या नहीं, पक भी रहा है या जल गया है, उसे बीच-बीच में चखा नहीं जाता। कुछ जनपदों खासकर गोंडों में यह माना जाता है कि अगर कोई खाना बनाते समय उसे चख ले, यानी उसका स्वाद जीभ पर ले ले तो "चुल्हादेव" (चूल्हे में रहनेवाले देवता) चखनेवाले को दण्ड देते हैं और उसका मुँह टेढ़ा कर देते हैं। इस मान्यता का आधार केवल यह है कि खाना बनाते समय उसे चखने से बचना चाहिए। तब फिर यह कैसे पता चले कि खाना ठीक-ठाक बन रहा है या बिगड़ रहा है? यह कैसे पता चले कि प्याज़ ठीक से भुन गई है, या कद्दू ठीक से पक गया है? इसका उत्तर हैः गन्ध। पकते हुए खाने की बदलती हुई महक। जैसे-जैसे खाना पकता जाता है, उसकी गन्ध भी बदलती जाती है। खासतौर पर तब, जब खाने की चीज़ किसी बन्द बर्तन में न पकायी जा रही हो। हालाँकि जब कुकर जैसे बन्द बर्तन में भी खाना पकाया जाता है, पकते हुए खाने की गन्ध कुकर के बाहर आ जाती है और हम पहचान जाते हैं कि खाना ठीक पक रहा है या नहीं।

## स्पर्श

*हम दुख के समय अपने किसी आत्मीय को छूने की इच्छा करते हैं। इसके विपरीत हम हमेशा ही दुखी आदमी कोगले लगाकर सांत्वना देते हैं। यह काम देखने या बोलने से उतनी अच्छी तरह नहीं होता। किसी गहरे दुख में डूबे जिस व्यक्ति का रोना भीतर ही भीतर उमड़ रहा हो, वह भी जैसे ही अपने किसी प्रिय व्यक्ति के गले लगता है, उसका रोना फूट पड़ता है। स्पर्श में यह शक्ति होती है। उसके सहारे हम एक-दूसरे को ढाँढस बँधा सकते हैं। पर ऐसा क्यों होता है?*

*(चकमक - दिसम्बर 2011)*

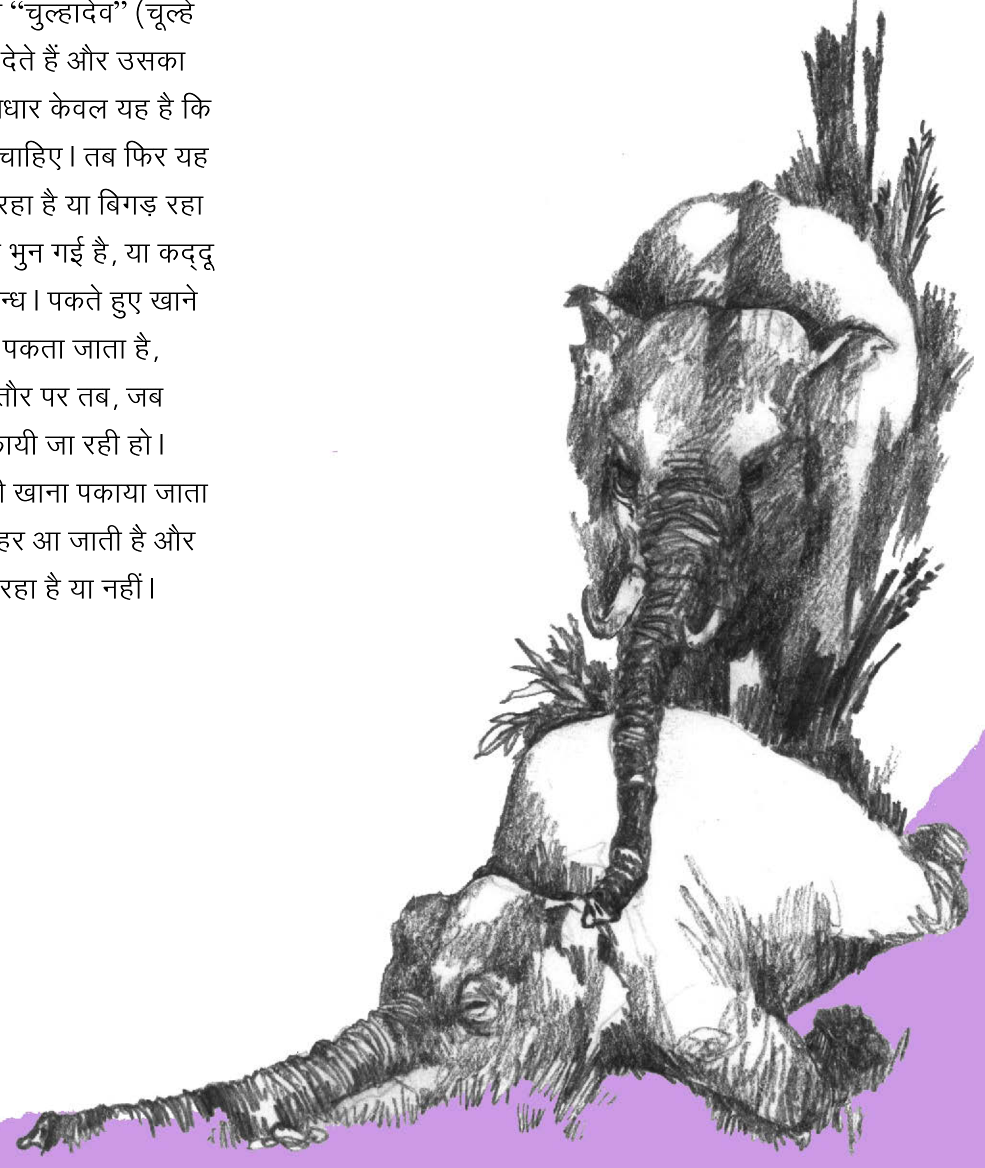

स्वाद को छह तत्वों में विभाजित किया जा सकता है। यानी हर स्वाद इन छह तत्वों के तरह-तरह के मिलने से बनता है। ये छह तत्व हैं: नमकीन, मीठा, कड़वा, कसैला, अम्लीय और तीखा। आधुनिक विज्ञान तीखे स्वाद को, यानी मिर्च के स्वाद को स्वाद का तत्व नहीं मानता। वह मानता है कि तीखा स्वाद का तत्व न होकर पीड़ा का तत्व है। इसके खाने से दर्द होता है। अम्लीय स्वाद को यह विज्ञान "उमामी" कहता है। यह ऐसा स्वाद है जो जापानी खाने में अकसर मिलता है।

इन छह तत्वों से ही दुनिया के सारे स्वाद बने हैं। आप जिस तरह के परिवेश में पलते-बढ़ते हैं, जैसा खाना खाने के आप में संस्कार पड़ते हैं, वैसा ही स्वाद आपकी जीभ पर बस जाता है। हर जीभ पर स्वाद की अलग-अलग बुनावटें होती हैं। इनमें से कुछ संस्कारों के कारण होती हैं और कुछ मनुष्य लेकर पैदा होता है। इसीलिए जब कोई उत्तर भारतीय व्यक्ति दक्षिण भारत के केरल जैसे प्रान्त में जाता है, उसे वहाँ नारियल के तेल में पका खाना खाने में कठिनाई हो सकती है।

## देखना

*हमारे देखने में हमारी कल्पना भी शामिल होती है। यह कल्पना कभी हमारे बीत चुके जीवन से आती है, कभी यूँ ही हमारे मन से। यह पता लगाना मुश्किल है कि हम जो देख रहे हैं, उसमें कितना हमारी कल्पना के कारण है। हम अपने देखने में अपनी तरफ से भी कुछ जोड़ते हैं। हम उसमें अपनी कल्पना जोड़ते हैं। यह सोचना कितना सुन्दर है कि रात में आकाश, नक्षत्रों से खचाखच भरा आकाश थोड़ा-सा खुद है और थोड़ा-सा हमारी कल्पना के कारण है।*

(चकमक - जनवरी-फरवरी 2011)

प्ररर्फ

स्वाद की शक्ति लगभग हर मनुष्य में है पर हर जीभ पर एक-दूसरे से अलग स्वाद हुआ करता है। स्वाद में कुछ तत्व सभी में सामान्य हैं पर कुछ ऐसे तत्व भी हैं जो हर मनुष्य में खास होते हैं। इसीलिए स्वाद के सहारे हम मनुष्य जाति के सदस्य भी रहते हैं और इसी रास्ते मनुष्य होते हुए भी अपनी एक अलग पहचान, कम-से-कम अपने लिए, बनाते हैं। स्वाद एक ऐसा अनुभव नहीं जिसे शब्दों में व्यक्त किया जा सकता हो। पर इस अनुभव के सहारे हम अपनी कुछ खास यादों को सहज ही, बिना किसी चेष्टा के जगा पाते हैं। फ्रांसीसी उपन्यासकार मार्सेल प्रूस्त के उपन्यास में एक दिलचस्प प्रसंग आता है। उपन्यास का एक पात्र एक खास किस्म का केक, मेडेलीन केक, एक सुबह जब चाय में डालकर खाता है, उसे अचानक अपने बचपन की अनेक घटनाएँ सिलसिलेवार याद आ जाती हैं। इसके लिए उसे कोई प्रयास अलग से नहीं करना पड़ता। मेडेलीन केक को जीभ पर रखते ही उसकी आँखों के सामने मानो उसके बचपन की यादों की फिल्म चलने लगती है। ये यादें ही इस उपन्यास को लिखते रहने का कारण बनती हैं। इसीलिए इस उपन्यास का नाम *सर्च ऑफ द लॉस्ट टाईम* (बीते हुए समय की खोज) है।

## सुनना

*हम जब भी सुनते हैं, उसका अर्थ लगाने की कोशिश करते हैं। कई बार नहीं भी करते जैसे संगीत सुनते समय। संगीत सुनते समय हम केवल सुनते हैं। उसका अर्थ लगाने की कोशिश कम ही करते हैं। वहाँ हम सुनने के सहारे किसी अर्थ तक पहुँचने की जगह, सुनने को ही अनुभव करते हैं। आवाज़ की विभिन्न बुनावटों की सुन्दरता को अनुभव करने की कोशिश करते हैं। संगीत को सुनकर हम अर्थ तक पहुँचने की जगह सीधे भाव तक पहुँचते हैं। किसी संगीत को सुनकर हममें दुख का भाव जगता है किसी और संगीत को सुनकर उल्लास का भाव।*

*(चकमक - दिसम्बर 2010)*

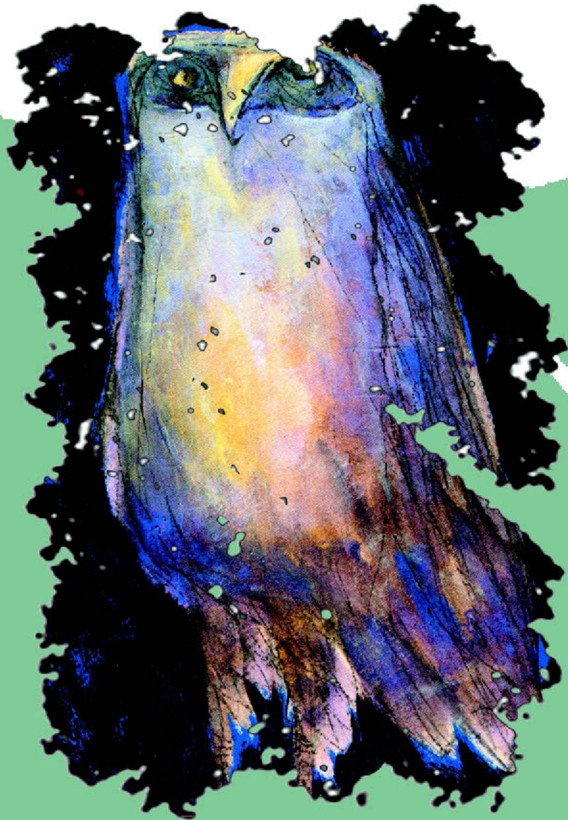

# एक था हाजी

स्वयं प्रकाश

चित्रः अतनु राय

**हाजी** और नाजी टीवी पर फुटबॉल मैच देख रहे थे। अचानक कमरे में नाजी की दादी आईं और वो भी टीवी देखने लगीं। लेकिन उन्हें कुछ समझ में नहीं आया।

दादी ने पूछा, "बेटा, ये सब उस गेंद को लात से मार क्यों रहे हैं?"

हाजी-नाजी ने कोई जवाब नहीं दिया। चुपचाप मैच देखते रहे।

दादी ने फिर पूछा, "बेटा, ये सब उस बेचारी गेंद को लात से मार क्यों रहे हैं?"

"गोल करने के लिए।" नाजी ने बताया।

नाजी की बात सुनकर दादी चक्कर में पड़ गईं। बुदबुदाकर बोलीं, "इतनी तो गोल है! और कितनी गोल करेंगे!"

**हाजी** ने नाजी से कहा, "बाज़ार में मक्खन और पनीर के बीच की एक चीज़ आई है जिसे 'चीज़' कहते हैं। जानते हो?"

"वही न जिसे कद्दूकस करके पिज़्ज़ा पर डाला जाता है!"

"हाँ।"

"जानता हूँ। चीज़। उसे चीज़ कहते हैं। मैं उसके बारे में सब जानता हूँ।"

"अच्छा? तो बताओ चीज़ कितनी तरह का होता है?"

"चार तरह का। व्हाइट, कॉटेज, मॉजरेला और बेखुदी।"

"एक मिनट। ये बेखुदी क्या है?"

"क्यों, तुमने वो गाना नहीं सुना? होशवालों को खबर क्या बेखुदी क्या चीज़ है!"

# एक था नाजी

"**चन्द्रमा** पर पहला पैर रखनेवाला मनुष्य कौन था?" अध्यापकजी ने नाजी से पूछा।

"नील आर्मस्ट्रॉन्ग।" नाजी ने जवाब दिया।

"शाबाश!" और दूसरा पैर रखनेवाला कौन था?" अध्यापकजी ने पूछा।

"दूसरा पैर भी उसी ने रखा होगा! उसे वहाँ कोई लँगड़ी खेलने तो भेजा नहीं था!"

**तेज़ी** से साइकिल चला रहे नाजी ने पैदल चलते हाजी को पीछे से ज़ोर की टक्कर मार दी। हाजी ज़मीन पर गिर गए। कोहनियाँ छिल गईं। पजामा फट गया।

उन्हें उठाते हुए नाजी बोले, "बड़े मियाँ, मिठाई बँटवाइए। आज मैं साइकिल पर हूँ। वैसे रोज़ तो मैं ट्रक चलाता हूँ।"

**हाजी** मोबाइल फोन खरीदने के लिए नाजी मोबाइल सेंटर में घुसे। उन्होंने बड़ी देर में और बड़ी मुश्किल से एक मोबाइल पसन्द किया और दुकानदार से पूछा, "ये कितने का है?"

"सात हज़ार का।" दुकानदार ने बताया।

"बाप रे!" हाजी बोले। फिर कुछ सोचकर उन्होंने पूछा, "आपके पास इस कम्पनी का आई पॉड भी है?"

"है।"

"वो कितने का पड़ेगा?"

"बाप रे, बाप रे, बाप रे!" दुकानदार ने कहा।

# डिबिया

उदयप्रकाश

**यह** डिब्बी बचपन से मेरे पास है। इसकी कहानी बहुत छोटी-सी है। और ऐसी भी नहीं कि वह अरुचिकर हो।

तो, था यह कि उस समय मेरी उम्र आठ साल की रही होगी। सातवें साल से दूधिया दाँत टूटने लगते हैं। लेकिन तब तक दाढ़ में वे दाँत नहीं उग पाते, जिनसे अक्ल पैदा होती है।

हमारा घर गाँव में है। पहले मिट्टी का घर था। छप्पर खपड़ैल की होती थी। अभी भी खपड़ैल की ही होती है। गाँव से लगा हुआ जंगल था। जंगल में लंगूर बहुत होते थे। बल्कि लंगूर शब्द मैंने काफी बाद में सीखा, किताबों से। हम उन्हें काले मुँह का बन्दर कहते थे। कौए भी बहुत होते थे। हमारी दादी खाना खाने के बाद दोपहर आँगन में कौओं को बुलाती थीं, खाना देने के लिए, तो वे पूरे आँगन में भर जाते।

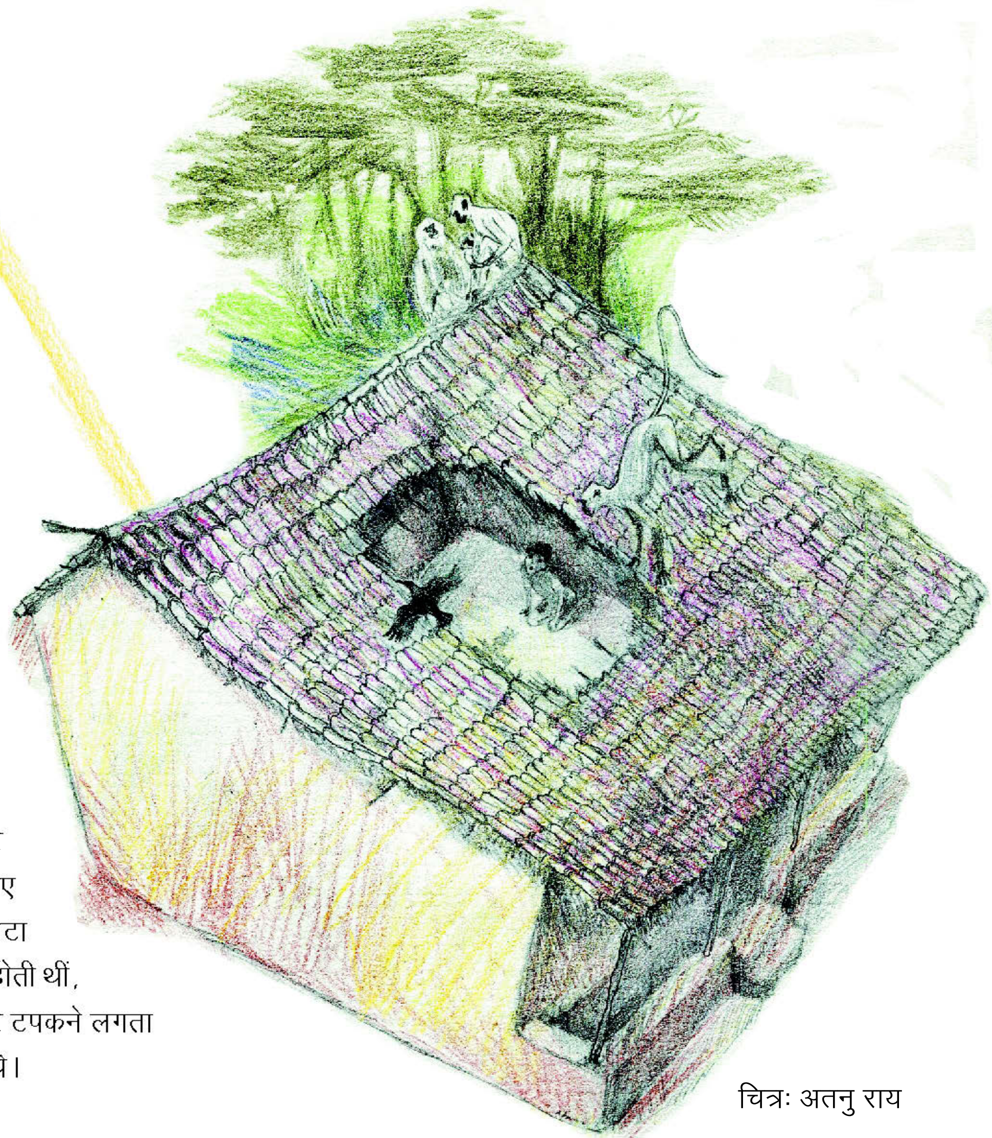

लंगूर और कौए, दोनों हमारे घर की छप्पर के दुश्मन थे। लंगूर छप्पर पर दौड़ते तो खपड़े फूट जाते। कौए भी जगह-जगह से खपड़ैलों को हटा देते थे। जहाँ-जहाँ खपड़ैलें फूट गई होती थीं, वहाँ से बरसात का पानी घर के अन्दर टपकने लगता था। हम वहाँ खाली बालटी रख देते थे।

चित्रः अतनु राय

लेकिन जब बारिश न होती तो उन छेदों से धूप कमरे के भीतर फर्श पर गिरती थी। फर्श पर धूप के वे गोल टुकड़े बहुत रहस्यपूर्ण, आकर्षक और कुछ-कुछ जीवित लगते थे। वे टुकड़े सूरज के साथ-साथ सरकते और उनका आकार भी बदलता जाता था। जिस टुकड़े को सुबह मैं किसी मछली के रूप में देख जाता था, दोपहर वह हाथी के रूप में होता। या मुँह फाड़े हुए राक्षस की तरह। कभी-कभी किरणों का कोण या सूरज की स्थिति बदलने से कोई टुकड़ा अदृश्य भी हो जाता। देखते-देखते वह छोटा होता जाता और फिर गायब हो जाता। अगले दिन ठीक उसी समय पर प्रकट होने के लिए। कभी-कभी कमरे में कई ऐसे टुकड़े दिखने लगते। फिर धीरे-धीरे छोटेवाले टुकड़े सब गायब हो जाते और जो सबसे बड़ा होता, वह सबसे देर तक टिका रहता।

इन टुकड़ों के साथ एक बात और भी थी। कमरे के अँधेरे में, जिस जगह वे गिरते, वहाँ अपने चमकदार अस्तित्व के चारों ओर, वृत्ताकार रोशनी का एक मद्धिम दायरा और बनाते थे। उस दायरे में आकाश का धुँधला प्रतिबिम्ब होता था। उलटा आकाश और हलके नीले रंग का। चिड़ियाँ कभी अगर ऊपर से जातीं तो कमरे के अन्दर उनकी उड़ती हुई परछाईं गुज़र जाती। रेंगते हुए बादल दिखते। कभी-कभी ये बादल उस टुकड़े को ही ढाँक लेते। तब ऐसे में कुछ भी न बचता। न प्रतिबिम्ब, न टुकड़ा। वे टुकड़े मुझे बहुत जीवित और जादुई लगते थे। मैं उन्हें अपने साथ वहाँ से दूसरी किसी जगह ले जाने के फेर में रहता। इतना तो निश्चित था कि इनमें जीवन था और इनके साथ मैं सिर्फ किसी पराए दर्शक जैसा सम्बन्ध नहीं रखना चाहता था। मैं उनके साथ इस पूरे दिन भर के खेल में शामिल होना चाहता था।

मैं बहुत कोशिश करता लेकिन वे अपनी जगह से नहीं जाते थे। जिस चीज़ को मैं उनके नीचे रखता, वे उसके ऊपर आ तो जाते लेकिन उसे खींचते ही वे वहीं रह जाते। हथेली में वे रहते लेकिन मुट्ठियाँ बाँधते ही वे उँगलियों के ऊपर आ जाते और मेरा हाथ खाली ही लौट आता। कई बार हारकर गुस्से में मैं उन्हें ज़ोरों से पीटता। लात मारता। लोहे से ज़मीन खोद डालता। लेकिन वे बिलकुल अप्रभावित रहते। मेरे प्रति उनकी यह तटस्थता मेरे बर्दाश्त के बाहर थी।

*(शेष भाग पेज 15 पर)*

# बँटवारा

मनीष जैन

**कहते** हैं कि गांधीजी सत्याग्रह से अभी उठे ही थे कि उन्हें बड़ी ज़ोर की भूख लग आई। एक पार्क के पास से गुज़रे तो उन्होंने दो बच्चों को लड्डू खाते देखा। लाल कुर्तेवाली के पास 5 थे और गुलाबी कुर्तेवाली के पास 3। उनसे रहा न गया। वे उनके पास गए और बोले, "मुझे भी खिला सकते हो?" अब बच्चे तो गांधीजी के फैन थे ही। मना कैसे करते। फिर तीनों ने बराबर-बराबर लड्डू खाए।

उनका शुक्रिया अदा करने के लिए अगले दिन गांधीजी ने उन दोनों को अपनी कुटिया में बुलाया। जब वे आए तो गांधीजी ने लाल कुर्ते वाली लड़की को 7 बर्फियाँ दीं और दूसरी को एक दी। किसी को भी यह बात न्यायसंगत न लगी। गांधीजी से किसी को ऐसी उम्मीद न थी।

क्या तुम अन्दाज़ लगा सकते हो कि गांधीजी ने ऐसा क्यों किया?

**इस** जवाब से सिर्फ इतना मालूम पड़ता है कि गांधीजी उन बच्चों को धन्यवाद नहीं दे रहे थे बल्कि उनकी दी हुई चीज़ उन्हें लौटा रहे थे। यदि हम कल्पना करें कि गांधीजी को मालूम न होता कि किसके पास कितने लड्डू थे, तो शायद वे दोनों बच्चों को बराबर-बराबर बर्फियाँ देते। इस प्रकरण में गांधीजी एक न्यायप्रिय व्यक्ति नहीं बल्कि एक व्यापारी ज़्यादा नज़र आते हैं। वैसे भी इस तरह की मानवीय परिस्थितियों को गणित के सवाल में तबदील करना उचित नहीं लगता। लड्डू देते समय बच्चों के मन में सिर्फ गांधीजी के प्रति प्रेम था। उन्होंने यह नहीं सोचा होगा कि गांधीजी इस प्रेम का बदला चुकाएँगे। गांधीजी ने उनके प्रेम को लड्डू-रूपी उनके योगदान से तौला। देश भी तो इसी तरह चल रहा है। जो ज़्यादा टैक्स दे, जो ज़्यादा कीमत दे सके, उसे ज़्यादा सुविधाएँ, ज़्यादा सत्ता मिलना इसी न्याय का परिणाम है। इसीलिए अमीर लोग कहते हैं कि गरीबों को सबसिडी देना गलत है। सवाल यह उठता है कि क्या गांधीजी की न्याय सम्बन्धी सोच वही थी जो इस पहेली में झलकती है।

इसी पहेली को थोड़ा और अलग तरह से देखते हैं। यह तो ज़ाहिर है कि दोनों लड़कियों की लड्डुओं की संख्या अलग-अलग थी। मगर जब देने की बारी आई तो दोनों ने अपने-अपने लड्डुओं में से कितना हिस्सा दिया। दोनों ने ही अपने-अपने लड्डुओं के तीन हिस्से किए – एक हिस्सा खुद रखा, एक हिस्सा गांधीजी को दिया और एक हिस्सा दूसरी लड़की को दिया। तो दोनों का योगदान बराबर ही माना जा सकता है। यदि बाढ़ पीड़ितों की सहायता करनी हो, तो हम कम्बल वगैरह देते हैं। अब मेरे पास कुल एक कम्बल है और वह एक कम्बल मैं दान दे देता हूँ और आपके पास 50 कम्बल हैं और आप दो कम्बल दान देते हैं तो किसने ज़्यादा दिया? सवाल तो यह भी है कि उन दोनों लड़कियों के पास कम-ज़्यादा लड्डू क्यों थे।

## पहेली का जवाब

गांधीजी की न्यायप्रियता पर हमें पूरा विश्वास है।

हम इस प्रकरण को दूसरी तरह से देखते हैं – आठ लड्डू 3 लोगों ने बराबर मिल बाँटकर खाए तो हरेक को 2 और 2/3 (दो और दो तिहाई) लड्डू मिले। गुलाबी कुर्तेवाली लड़की के पास तीन लड्डू थे तो उसने अपना 1/3 लड्डू ही गांधीजी को दिया बाकी उसने खुद खा लिया। लाल कुर्तेवाली लड़की ने 2 और 2/3 खुद खाकर पाँच में से बचे 2 और 1/3 गांधीजी को दिए।

यानी लाल कुर्तेवाली लड़की ने गांधीजी को 2 और 1/3 लड्डू दिया और दूसरी लड़की ने सिर्फ एक तिहाई। तो उसी हिसाब से गांधीजी ने भी बर्फियों का भी बँटवारा दोनों लड़कियों को उसी अनुपात में कर दिया। 2 1/3 : 1/3 का अनुपात 7:7 के बराबर है।

इस हिसाब से यदि लड़कियों के पास 6 और 3 लड्डू होते जिन्हें वे गांधीजी के साथ बाँटतीं तो गुलाबी कुर्तेवाली लड़की को कुछ भी नहीं मिलता। – मनीष जैन

मान लीजिए वहाँ एक ही लड़की होती और गांधीजी (पता नहीं क्यों सत्याग्रह करने के बाद भूखे ही) उसके पास पहुँचते। वह लड़की अपने आधे लड्डू गांधीजी को दे देती। फिर गांधीजी उसे अपने आश्रम में बुलाकर कितनी बर्फियाँ देते? जवाब इस बात पर निर्भर करता कि उस समय गांधीजी के पास कितनी बर्फियाँ होतीं। न्याय का तकाज़ा तो यही होगा कि गांधीजी उसे अपने पास की बर्फियों में से आधी दे दें।

दरअसल, गणित की यह पहेली एक सामाजिक मूल्य को स्थापित करने का काम करती है। गोरख पांडे की पंक्तियाँ हैं –

*छोटका का छोटहन, बड़का का बड़हन*
*बखरा बराबर लगाई, समाजवाद बबुआ धीरे-धीरे आई।*

- सुशील जोशी

# डिबिया

*(पेज 13 का शेष भाग)*

फिर उस दिन ऐसा हुआ। मैं अकेला था। और रसोई में था। एक बड़ा-सा, सुन्दर-सा टुकड़ा वहाँ गिरा हुआ खेल रहा था। मैंने उस टुकड़े को खूब प्यार करने की कोशिश की। उसे चूमा फिर भात और दाल निकालकर उसे दिया। रसोई में बेना रखा हुआ था। चूल्हे की आग को हवा करने के लिए उसी का इस्तेमाल होता है। मैंने बेने के ऊपर उस टुकड़े को रखा और उसे खींचा।

मैंने देख लिया कि वह बेने के साथ-साथ सरक रहा है। वह आ रहा था। यह मेरे जीवन की सबसे बड़ी सफलता थी। वह अब छप्पर से मुक्त हो चुका था। सूर्य से भी। मेरे साथ उसका सम्बन्ध बन चुका था और उसने अपने बाकी सारे सम्बन्ध तोड़ दिए थे। वह मेरा था। सिर्फ मेरा। मैं उसे रसोईघर के दूसरे कोने तक ले गया। फिर मैंने उससे प्यार से कहा, "मेरा इन्तज़ार करना। मैं अभी आया।" और मैं भागा। टिन की यह डिबिया, जिसमें पहले माँ का काजल था, उसे लेकर मैं लौटा। वह मेरा इन्तज़ार कर रहा था, बेने के ऊपर। धीरे-धीरे काँपता हुआ। मैंने तभी से उसे इस डिबिया में बन्द कर रखा है। मैं जानता हूँ कि वह वहीं है, वह हमेशा वहीं है, वह हमेशा वहीं रहेगा। और यह बात सच है।

क्या इस डिबिया का ढक्कन हटाकर उसे खो देने का इतना बड़ा खतरा मैं सिर्फ इसलिए मोल लूँ, कि इससे उन लोगों को मेरे इस अनुभव पर विश्वास हो जाएगा। वरना मैं उनका विश्वास कभी हासिल नहीं कर सकूँगा। लेकिन जो नहीं है, उसके लिए जो है, उसे दाँव पर लगाना क्या कोई समझदारी है!

*(कहानी डिबिया का एक अंश)*

# जब एक लड़की जीतती है ...

कपिल पंचोली

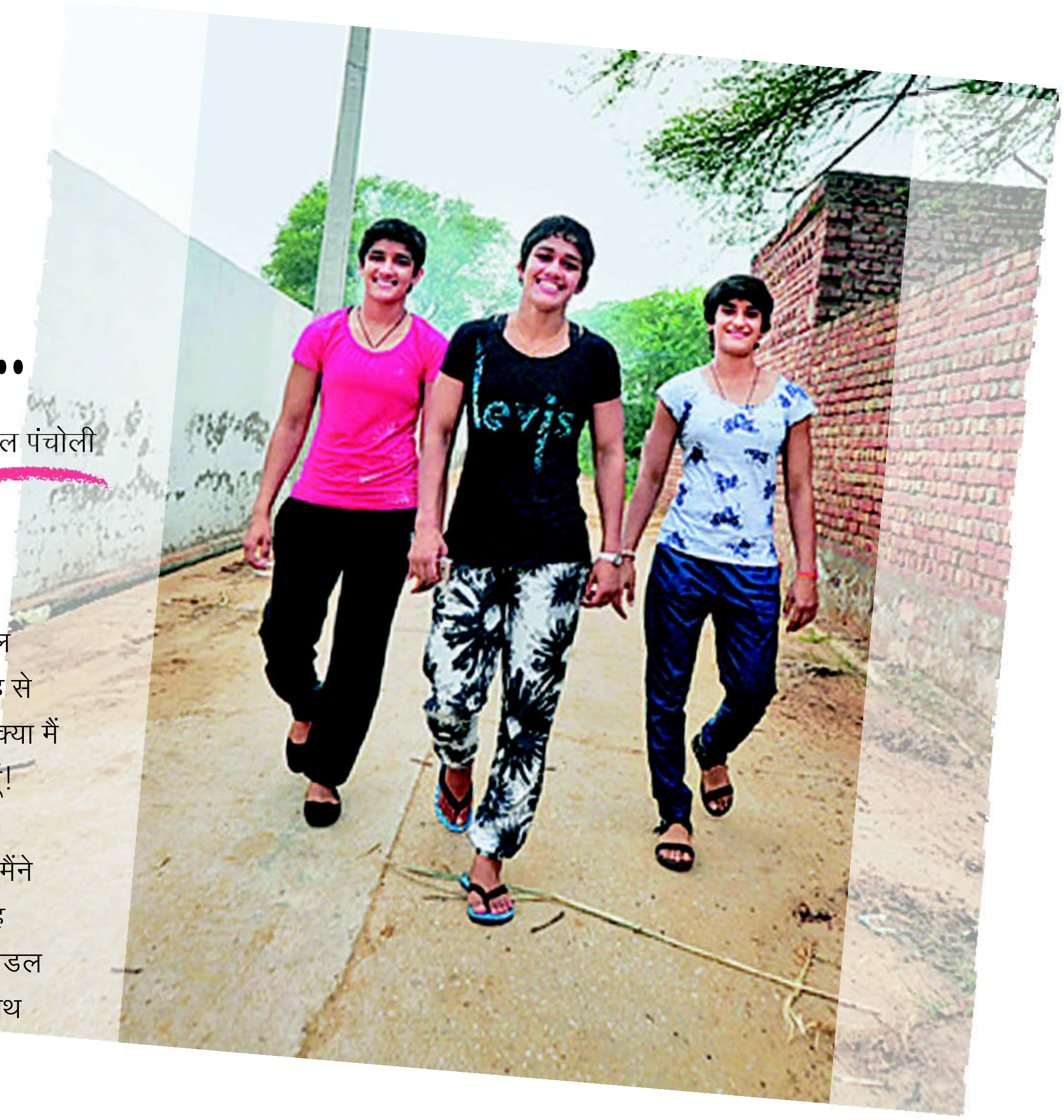


**जब** वे ग्लासगो से गोल्ड मैडल जीतकर आईं तो मैंने भी उत्साह से पूछ लिया कि *चकमक* के लिए क्या मैं उनसे कुछ सवाल पूछ सकता हूँ! उन्होंने कहा, "जब छपे तो मुझे भिजवाना।" मैं देखना चाहूँगी। मैंने कहा, "क्यों नहीं।" तो इस तरह भारत के लिए कुश्ती में गोल्ड मैडल जीतनेवाली विनेश फोगट के साथ बातचीत शुरू हुई।

**लड़कियाँ आगे बढ़ना चाहती हैं। वे हर तरह की कठिन स्थिति में रास्ता बना लेती हैं।**

**क्या बचपन से ही कुश्ती खेलना आपको पसन्द था?**

नहीं, छोटी थी तब मैंने कुश्ती की तरफ कोई खास ध्यान नहीं दिया। सच कहूँ तो कुश्ती में मेरी कोई खास दिलचस्पी भी नहीं थी। मेरे ताऊजी उनकी बेटियों और मेरी बहनों को कुश्ती सिखाते थे। मैं तो उनकी प्रैक्टिस देखने के लिए जाती थी। जब दोनों दीदियों का नाम होने लगा, सब उनकी तारीफें करने लगे तो मेरी रुचि भी इस खेल में बढ़ी।

**लेकिन कुश्ती ही क्यों? कोई और वजह?**

चूँकि हमारे ताऊजी कुश्ती के उस्ताद थे। तो वे हमें इस खेल के लिए तैयार कर सकते थे। उनके रहने से हमें बहुत हौंसला भी मिला।

**यानी वे सख्त मिज़ाज कोच नहीं थे?**

ऐसा बिलकुल नहीं है। जब वे हमें कोचिंग देते तो ताऊजी नहीं हमारे गुरू होते थे। वे हमें सुबह साढ़े तीन बजे जगा देते। फिर खेतों के चक्कर लगवाते। इसमें दो-ढाई घण्टे तक खूब पसीना बहाना पड़ता था। फिर आधे घण्टे के करीब का आराम मिलता और इसके बाद तैयार होकर स्कूल जाना। सुबह की कड़ी मेहनत के बाद अकसर स्कूल में नींद आने लगती थी। कभी-कभी तो हमारी टीचर ही हमें क्लास में सोने देतीं क्योंकि वे जानती थीं कि हम सुबह जमकर अभ्यास करते हैं। रविवार को स्कूल की छुट्टी होती थी लेकिन ट्रेनिंग से नहीं।

**बाकी गाँव की नज़र में लड़कियों का कुश्ती खेलना ठीक नहीं समझा जाता था।**

**तो परिवार में कुश्ती के प्रति लगाव होने से आपको इस खेल में आगे बढ़ने में कोई खास दिक्कत नहीं आई?**

ऐसा नहीं कहूँगी क्योंकि भले ही हमारे परिवार में इस खेल को बहुत सम्मान की नज़र से देखा जाता हो लेकिन बाकी गाँव की नज़र में लड़कियों का कुश्ती खेलना ठीक नहीं समझा जाता था। मेरे ताऊजी को लोगों ने कहा भी कि क्यों बेटियों को बिगाड़ रहे हो। जब ये कुश्ती खेलेंगी तो इनसे कौन शादी करेगा। वैसे भी कुश्ती लड़के ही ज़्यादा खेलते थे। मुझे लगता है कि अगर किसी खेल में कुछ लड़कियाँ न हों तो अकेली लड़की का किसी खेल को चुनना बहुत मुश्किल है। लड़कों को कोई भी खेल चुनने की आज़ादी है लेकिन शायद लड़कियों के लिए यह बात सच नहीं है। अगर माता-पिता या फैमिली सपोर्ट नहीं करे तो लड़कियों के लिए आगे बढ़ना मुश्किल होता है। लेकिन लड़कियाँ आगे बढ़ना चाहती हैं तो वो हर तरह की कठिन स्थिति में रास्ता बना लेती हैं।

**आपके साथी-सखी-सहेलियाँ कुश्ती को कैसे देखती थीं?**

हमारी सहेलियाँ इसे अच्छी नज़र से देखती थीं। खेलने की इच्छा तो उनके मन में भी होती थी लेकिन हर किसी को हमारी तरह मौका और परिवार से आज़ादी नहीं मिली हुई थी। जहाँ तक लोगों की बात है तो शुरू-शुरू में वे आपको देखकर नाराज़ होते हैं लेकिन जब आप जीतकर आते हैं तो उन्हीं लोगों के मुँह बन्द हो जाते हैं।

**गाँववाले तब क्या कहते थे कि लड़कियों को कुश्ती क्यों नहीं खेलना चाहिए?**

शायद उन्हें डर था कि लड़कियाँ कुश्ती खेलने के लिए लड़कों से मेलजोल रखेंगी तो कुछ ऊँच-नीच न हो जाए। वैसे भी हम लड़कों के साथ अभ्यास करते थे। उनसे बात करते थे और नेकर पहनते थे तो इन सभी चीज़ों से उन्हें एतराज़ था। उन्होंने हमारे ताऊजी से खूब कही लेकिन ताऊजी इरादे के पक्के थे। उन्होंने किसी की बात की तरफ कान भी न धरा। तब अगर ताऊजी पीछे हट जाते तो हम कभी गोल्ड मैडल तक नहीं पहुँच पाते।

**शुरू-शुरू में वे आपको देखकर नाराज़ होते हैं लेकिन जब आप जीतकर आते हैं तो उन्हीं लोगों के मुँह बन्द हो जाते हैं।**

**यानी रास्ता आसान नहीं है?**

मुश्किलें तो हैं लेकिन अगर लड़कियाँ ठान लें तो कुछ भी मुश्किल कहाँ है! पहले गीता दीदी, बबीता दीदी और फिर मैं – हम तीनों ने कुश्ती में नाम कमाया। मुश्किलें हैं और रहेंगी भी। पहले लोग एतराज़ करते थे तो अब कुछ दूसरी तरह की मुश्किलें हो सकती हैं। हो सकता है लड़कियों को शुरू-शुरू में घर का काम भी करना पड़े और खेलने के लिए समय निकालना पड़े। लेकिन जब आप एक बार अच्छे से खेलकर दिखा दोगे तो फिर घर में भी आपकी इज़्ज़त होगी। रस्ते को निकलना होगा। कुछ नहीं करोगे तो बैठे रहोगे।

**जैसे आप हरियाणा में भिवानी के पास बलाली गाँव से हैं तो क्या वहाँ कुछ बदला है आपके जीतने के बाद?**

हाँ, क्यों नहीं बदला! लोग अब अपनी बेटियों को कुश्ती सिखाना चाहते हैं। अखाड़ों में चहल-पहल बढ़ गई है। यह उसी राज्य में हो रहा है जो कन्या भ्रूण हत्या के कारण बदनाम है। जब एक लड़की जीतती है तो वह कई लड़कियों के लिए रास्ते खोलने का काम करती है।

**खेल और पढ़ाई के बीच तालमेल कितना कठिन होता है?**

जब मैं आठवीं में थी तब मुझे अण्डर-16 राष्ट्रीय टीम में चुन लिया गया था। मैं बस परीक्षा में बैठती थी। क्लास जाना नहीं हो पाता था। मेरा सारा समय कुश्ती में ही जाता। हाईस्कूल पूरा करने के बाद मेरा दाखिला हरियाणा के एक कॉलेज में करा दिया गया है। मुझे तो यह भी नहीं मालूम कि मेरे घरवालों में मेरे लिए कौन-से विषय चुने हैं!

वैसे पढ़ाई करना मुझे अच्छा लगता था। कई बार तो मैंने पढ़ाई करने के लिए अपने ताऊ की मार भी खाई है क्योंकि तब मैं प्रैक्टिस छोड़ देती थी।

*अगले अंक में हम तुम्हें मिलवा रहे हैं मशहूर निशानेबाज़ राही सरनोबत से। ग्लासगो कॉमनवेल्थ गेम्स में उन्होंने २५ मीटर पिस्टल निशानेबाज़ी प्रतियोगिता में स्वर्ण पदक जीता था। अगर तुम राही से कोई सवाल पूछना चाहते हो तो हमें चिट्ठी लिख सकते हो या ईमेल या एसएमएस कर सकते हो। ये रहे पते:*

चकमक
ई 10, शंकर नगर, शिवाजी नगर भोपाल - 16
chakmak@eklavya.in
फोन : 094250 10115

## ईश्वर की कहानियाँ

– विष्णु नागर

ईश्वर ने जब सुना कि एक आदमी अपने को ईश्वर बताकर लोगों को लूट रहा है तो उन्होंने मुँह अँधेरे सारे शहर में पोस्टर लगवा दिए – नकली ईश्वर से सावधान! धोखा मत खाइए।

अगले दिन जवाबी पोस्टर लगे थे – असली ईश्वर से सावधान। उसी के कारण आज दुनिया की यह हालत हो गई है।

एक दिन ईश्वर एक दुकान के बाहर कोका-कोला पी रहे थे। सच्चे भक्त को यह पहचानने में देर न लगी कि ये ईश्वर हैं। उसने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, “आप ईश्वर होकर विदेशी पेय कोका-कोला पी रहे हैं।”

ईश्वर ने जवाब दिया, “भक्त, मैं तो पेप्सी भी पी चुका हूँ।”

भक्त ने अपने कान पकड़े और कहा, “प्रभु, आपको यह सब शोभा नहीं देता।”

ईश्वर ने कहा, “भक्त होकर तुम पीते हो, मुझे तरसाते हो। और फिर कहते हो कि मुझे विदेशी ठण्डे पेय पीना शोभा नहीं देता?”

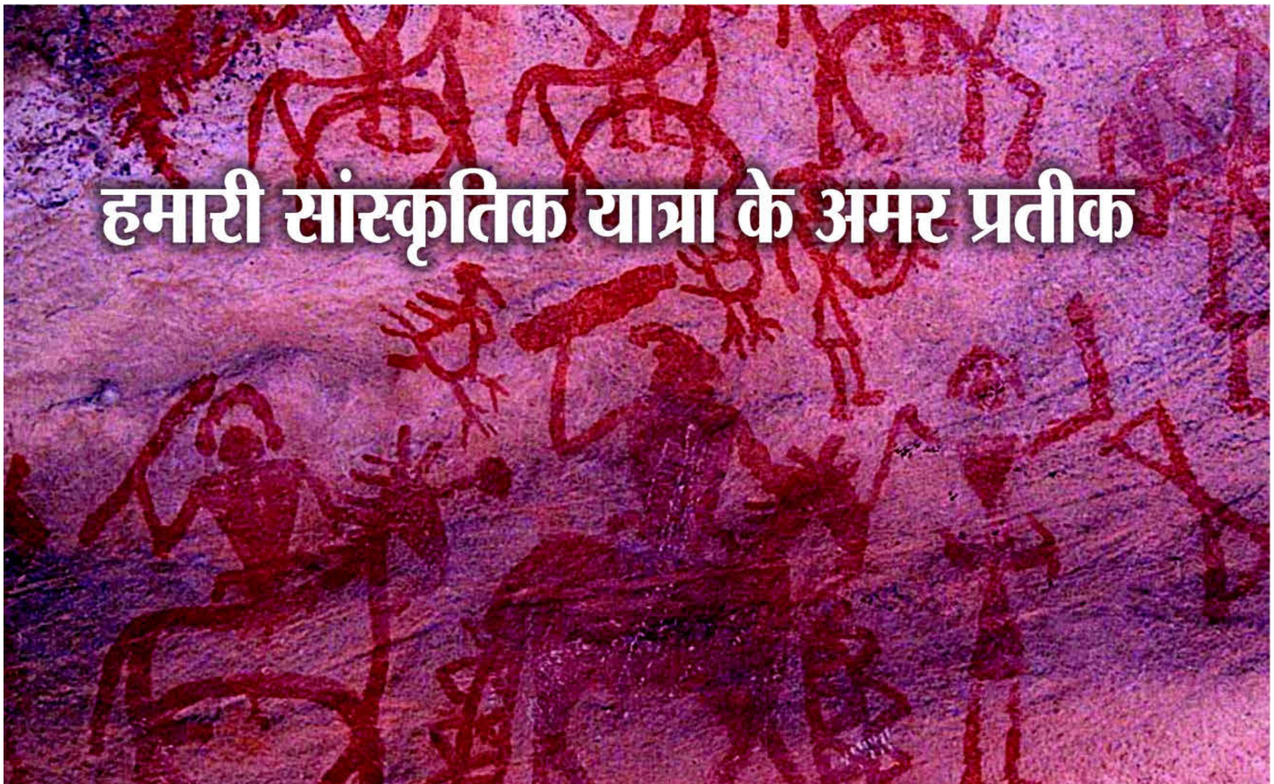

# हमारी सांस्कृतिक यात्रा के अमर प्रतीक

ये मानव सभ्यता की यात्रा के निशान हैं,
भीमबैठका के भितिचित्र,
साँची के स्तूप,
खजुराहो के मंदिर।
लगातार याद दिलाते हुए कि
हम परिभाषित होते हैं
इस यात्रा से।

इन्हें बचाना है,
क्योंकि हमें बचना है।

**विरासतों को सहेजता**
**मध्यप्रदेश**

*मध्यप्रदेश जनसंपर्क द्वारा जारी* D76557 दिनांक 1/11/2014

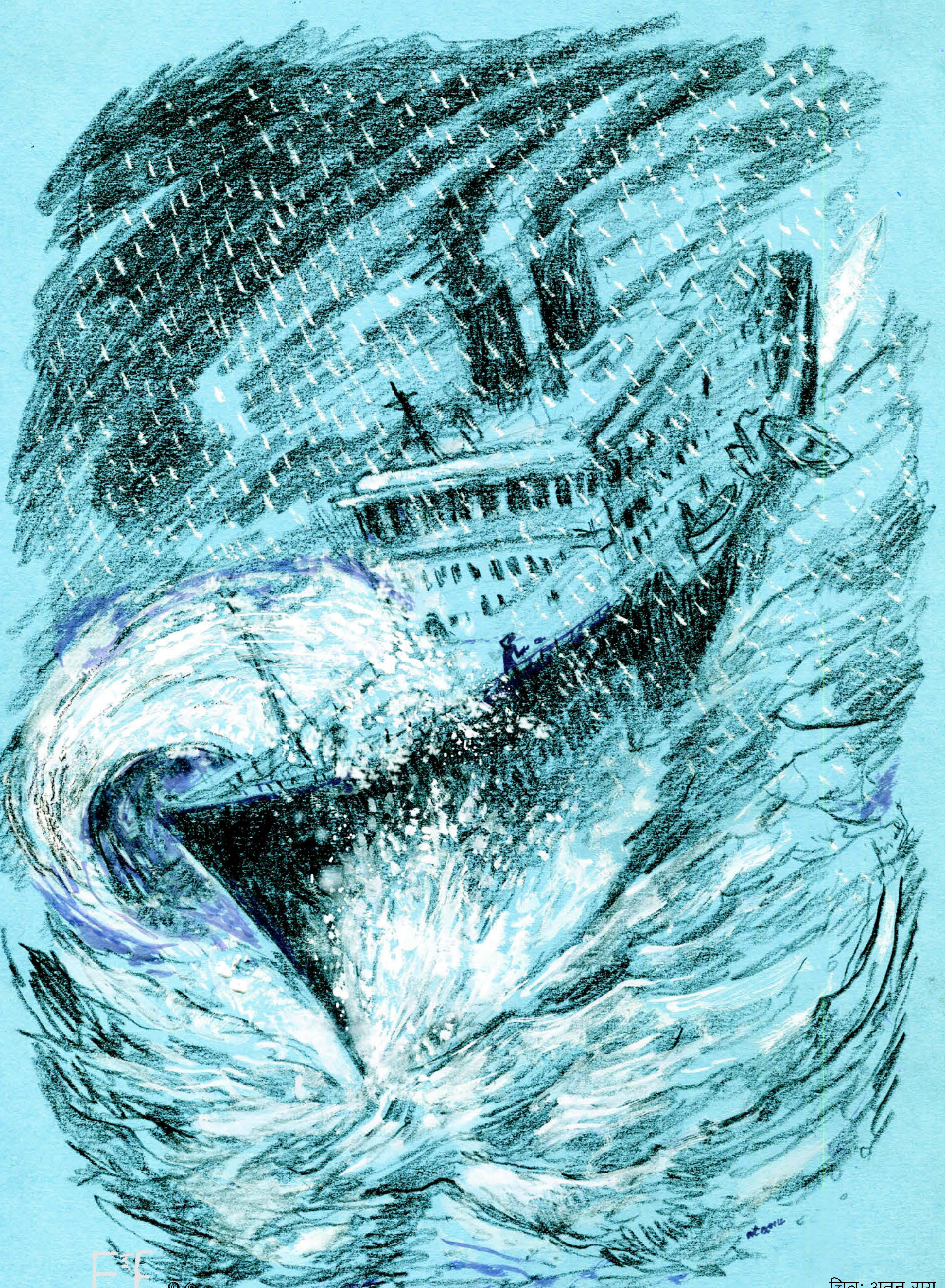

चित्रः अतनु राय

# भगोड़ा चक्रवात

जगदीश चन्द्र बसु

### भाग 1 - एक वैज्ञानिक रहस्य

कुछ बरस पहले एक अजीब-सी घटना हुई जिससे यूरोप और अमरीका के वैज्ञानिक हैरान रह गए। उसे समझने के लिए बहुत-से वैज्ञानिक पत्रों में बहुत-से लेख लिखे गए लेकिन कोई ठोस बात निकलकर नहीं आई।

28 सितम्बर को कलकत्ता के सबसे बड़े अँग्रेज़ी अखबार *इंग्लिशमैन* ने शिमला से मिली यह खबर छापी –

शिमला मौसम अनुसंधान प्रयोगशाला, 27 सितम्बरः बंगाल की खाड़ी में एक बड़ा चक्रवात आने की सम्भावना।

29 सितम्बर को उसी अखबार में यह खबर छपी –

"मौसम अनुसंधान शाला, अलीपुरः एक भयंकर चक्रवात बंगाल की तरफ बढ़ रहा है और अगले दो दिनों में वहाँ पहुँच जाएगा। डायमण्ड हार्बर पर खतरे की चेतावनी दी जा चुकी है।"

30 तारीख की खबर और भी परेशान करनेवाली थी –

"बैरोमीटर पर वायुमण्डलीय दबाव की गिनती सिर्फ आधे घण्टे में ही 2 इंच गिर गई। कल सुबह दस बजे तक कलकत्ता इस सदी का सबसे खतरनाक और दहला देनेवाला तूफान देखेगा।"

**उस** रात कलकत्ता में कोई नहीं सोया। सब रात भर यही सोचते रहे कि कल के दिन में जाने कितनी मुश्किलें लिखी हैं!

1 तारीख आई। आसमान गहरे बादलों से भरा रहा। थोड़ी बहुत बारिश भी लगी ही रही। दिन भर अँधेरा-अँधेरा-सा छाया रहा। लेकिन चार बजे के आसपास अचानक मौसम खुल गया। बादल छँट गए। बारिश थम गई। तूफान की सारी सम्भावनाएँ खत्म हो चुकी थीं। अगले दिन मौसम विभाग ने अखबारों में यह खबर भेजी –

"कलकत्ता में आनेवाला चक्रवात बंगाल की खाड़ी से मुड़ गया है और सम्भवतः किसी और दिशा में चला गया है।"

लेकिन बहुत से वैज्ञानिकों की कोशिशों के बावजूद, चक्रवात की नई दिशा का कोई अन्दाज़ा नहीं मिल पाया। इसके चलते *इंग्लिशमैन* ने पहले ही पन्ने पर छाप दिया – "अब तय है कि विज्ञान के पास आधा ही ज्ञान है।" एक और अखबार *दैनिक समाचार* ने कहा – "यदि विज्ञान इतना ही कमज़ोर है तो आम आदमी के पैसों से मौसम विभाग चलाने का क्या फायदा?" बाकी अखबार (*पायनियर*, *मिलिट्री समाचार* और *स्टेट्समैन*) भी हल्ला मचाने लगे – "बन्द करो मौसम विभाग। बहुत हुआ सम्मान।"

सरकार पशोपेश में थी। अभी कुछ ही दिन पहले एक लाख रुपए का नया यंत्र खरीदा था मौसम विभाग के लिए। और अब यह बखेड़ा! काँच की रद्दी बोतलों के दाम भी नहीं बिकेगा वो नया यंत्र अब। और फिर मौसम विभाग के बड़े बाबू का अब कहाँ तबादला करेंगे? अपनी छवि सुधारने के लिए सरकार ने कलकत्ता मेडिकल कॉलेज को चिट्ठी लिखी। "हम आपके कॉलेज को शोध के लिए धन देना चाहते हैं। शोध का विषय होगा – मानव के मस्तिष्क और शरीर पर वायुमण्डलीय दबाव का प्रभाव।" मेडिकल कॉलेज के प्रिंसिपल का यह जवाब आया –

"बढ़िया सुझाव है। वायु में दबाव कम होने से शरीर में रक्त-संचार बढ़ता है। इस से शरीर को बेशक एक नई ऊर्जा मिलेगी। लेकिन, फिलहाल कलकत्तावासी इन मुख्य दबावों से जूझ रहे हैं:

पहला - वायु।
दबाव प्रति वर्ग इंचः 15 पाउण्ड।
दूसरा - मलेरिया।
दबाव प्रति वर्ग इंचः 20 पाउण्ड।
तीसरा - महँगी दवाएँ।
दबाव प्रति वर्ग इंचः 30 पाउण्ड।
चौथा - विश्वविद्यालय।
दबाव प्रति वर्ग इंचः 50 पाउण्ड।
पाँचवाँ - इनकम टैक्स।
दबाव प्रति वर्ग इंचः 80 पाउण्ड।
छठा - नगर निगम टैक्स।
दबाव प्रति वर्ग इंचः 1 टन।

इनमें से कुछ इंच दबाव कम करना वैसा ही होगा जैसे लकड़ी से लदी किसी गाड़ी से कुछ टहनियाँ हटा लेना। इसलिए कलकत्ते में ऐसे शोध पर खर्च करने से आम आदमी को कोई खास फर्क नहीं पड़नेवाला। शिमला के पहाड़ों पर हवा का दबाव भी कम है और रोज़मर्रा के बाकी दबाव भी। ऐसा शोध अगर वहाँ किया जाए तो शायद ज़्यादा फायदा हो।"

इस करारे जवाब के बाद सरकार चुप हो गई। मौसम विभाग ने भी जैसे-तैसे इस अँधड़ से अपनी जान छुड़ाई। पर चक्रवात का मुद्दा एक रहस्य बना रहा। एक वैज्ञानिक ने विश्व-प्रसिद्ध पत्रिका *नेचर* में एक लेख भी लिखा। इस वैज्ञानिक का मानना था कि चक्रवात पर किसी अदृश्य उल्का-पिण्ड का गुरुत्वाकर्षण बल लगा जिसके चलते वह मुड़ गया। पर ये सब कोरे तुक्के ही थे। किसी "ज्ञानी पुरुष" ने तो यह तक लिख डाला कि चक्रवात की दोपहर को सरकार के लेफ्टिनेंट गवर्नर टहलने के लिए डायमण्ड हार्बर की तरफ चले गए और उनकी भारी-भरकम प्रतिष्ठा से घबराकर तूफान गायब हो गया।

आज तक वैज्ञानिक हलकों में इस विषय पर बात होते ही तूफानी बहस शुरू हो जाती है। ऑक्सफोर्ड में ब्रिटिश एसोसिएशन के सम्मेलन में एक जर्मन प्रोफेसर ने इस "भगोड़े चक्रवात" के पीछे एक ऐसा नया सिद्धान्त दिया कि सब भौंचक्के रह गए। इन प्रोफेसर साब के हिसाब से, "एक चक्रवात असल में वातावरण का ही एक रूप है। अब पहले देखते हैं कि यह वातावरण बना कैसे! जब हमारी पृथ्वी सूर्य से निकला हुआ एक पिघला पदार्थ ही थी तब कोई वातावरण नहीं था। उस पिघले पदार्थ में से कैसे जीवनदाई गैसें – हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, और नाइट्रोजन निकलीं, यह आज तक भी एक अनसुलझा रहस्य ही है। और उससे भी बड़ा रहस्य है पृथ्वी पर जीवन का विकास। चलो मान भी लें कि किसी गणित के चलते वातावरण का निर्माण हुआ लेकिन यह वातावरण असीम शून्य में घुल के खतम क्यों नहीं हो जाता यह बहुत अचम्भे की बात है। यह इसलिए नहीं होता क्योंकि पृथ्वी के पास गुरुत्वाकर्षण का बल है। और गुरुत्वाकर्षण किसी चीज़ पर उतना ही लगता है जितना उसका भार हो। जो चीज़ जितनी वज़नदार होगी, उतने ही ज़्यादा बल से वो पृथ्वी से जुड़ी रहेगी। जो चीज़ हलकी होगी, वो भारी चीज़ के मुकाबले ज़्यादा मुक्त होगी पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से। इसीलिए जब पानी में तेल डालते हैं तो तेल ऊपर उठ आता है। वह पानी के मुकाबले हलका है। हाइड्रोजन गैस हलकी है इसलिए हमारे वायुमण्डल को छोड़कर निकलने की कोशिश करती है। पर एकदम भार-रहित नहीं होने की वजह से ऊपर जाकर टिकी रहती है। लेकिन शायद यह सिद्धान्त भौतिकी के बाहर लागू नहीं होते। जैसे कि, भारत नाम के देश में, पुरुष भारी हैं लेकिन फिर भी उनको ज़्यादा स्वाधीनता है, और महिलाएँ हलकी होने के बावजूद घर-रसोई से बँधी रहती हैं। यानी यह बल सिर्फ पदार्थ पर ही काम करता है। और पदार्थ की मृत्यु के बाद इस बल का कोई मतलब नहीं। जब इंसान मरता है तो उसकी आत्मा को निकलकर जाने से गुरुत्वाकर्षण नहीं रोक सकता। वैसे कुछ लोग कहते हैं यह बल आत्माओं को भी नहीं छोड़ता इसलिए बहुतों की आत्माएँ भटकती रहती हैं। लेकिन पदार्थ के सन्दर्भ में यह कहना गलत होगा कि उसमें भी पाँच तत्व होते हैं – क्योंकि हमें तो तीन ही दिखते हैं। किसी भी धातु पर रेडियम का वार किया जाए तो उसके तीन ही हिस्से होते हैं – अल्फा, बीटा और गामा। इसलिए जब किसी पदार्थ को तोड़ा जाए तो उसका अ-पदार्थ भले ही अज्ञात शून्य में खो जाता हो, उसके हिस्से हमेशा गुरुत्वाकर्षण के धागे से पृथ्वी से बँधे रहते हैं।"

जर्मन प्रोफेसर ने वैसे तो बहुत विस्तार से यह समझा दिया कि पदार्थ कभी भी अन्तरिक्ष में विलीन क्यों नहीं हो सकता लेकिन यह बताने में असमर्थ रहे कि हमारा वो चक्रवात कहाँ विलीन हो गया।

और सौ बातों की एक बात यह है कि चक्रवात का सच पूरी दुनिया में सिर्फ एक इंसान जानता है – मैं खुद। अगले हिस्से में मैं इस घटना का पूरा चिट्‌ठा खोलता हूँ।

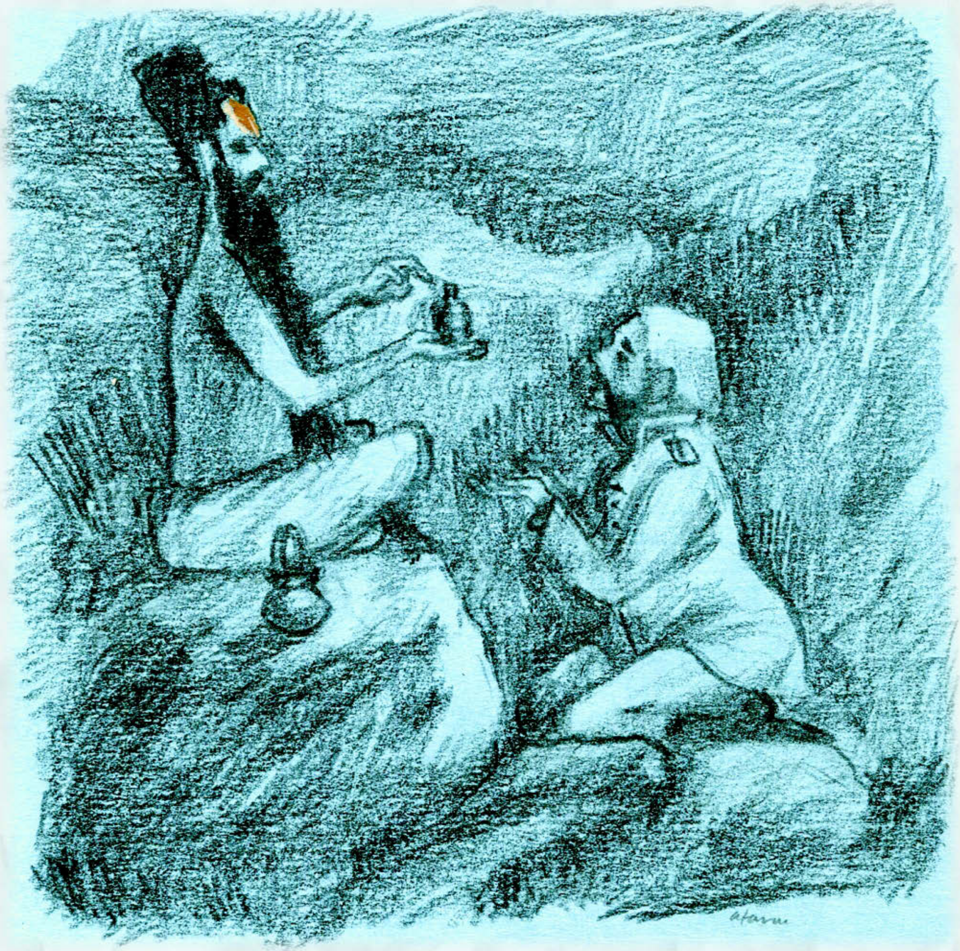

## भाग दो

कुछ साल पहले मैं बुरी तरह बीमार पड़ा था। करीबन एक महीने तक बिस्तर पकड़ना पड़ा था। डॉक्टर ने कहा कि सेहत बनाने के लिए एक समुद्री यात्रा बहुत ज़रूरी है; उसके बिना मैं बीमारी के अगले दौर से लड़ नहीं पाऊँगा। तो मैंने सोचा सीलोन (श्रीलंका) की यात्रा की जाए। बीमारी ने मेरे बालों पर गहरा आघात किया था। पहले बड़े घने बाल थे लेकिन बीमारी के बाद कम ही बचे थे। एक दिन मेरी 8 साल की बेटी मेरे पास आई और पूछने लगी, “बाबा, यह द्वीप क्या होता है?” मैं जवाब देता उससे पहले ही उसने मेरे बचे-खुचे बालों को एक गुच्छे में पकड़ के उठा लिया और बोली, “ये रहे द्वीप!” फिर जब वो मनभर कर हँस ली तो बोली, “मैंने आपके झोले में ‘कुंतल केसरी’ की एक बोतल रख दी है। रास्ते में हर रोज़ उसे एक बार ज़रूर लगाना, वर्ना समुद्र के नमकीन पानी से आपके बचे-खुचे बाल भी गायब हो जाएँगे।”

“कुंतल केसरी” कैसे बना इसके पीछे भी एक बड़ी दिलचस्प कहानी है। एक ब्रिटिश साहब अपनी सर्कस कम्पनी के साथ भारत आए थे। सर्कस का सबसे मशहूर खेल था एक शेर जिसके बाल बहुत लम्बे, घने और काले थे। एकदम पॉलिश मारे हुए चमकीले काले। लेकिन हाय री किस्मत! लम्बे समुद्री सफर में शेर बीमार हो गया और उसके बाल करीब-करीब सारे झड़ गए। जब जहाज़ हिन्दुस्तान पहुँचा तो उस शेर और गली के कुत्ते में फर्क बताना मुश्किल था। सर्कस का मालिक, एकदम हताश हालत में एक संन्यासी के पास पहुँचा और उनके पैरों में गिर पड़ा। अब बताओ, एक अँग्रेज़ संन्यासी के कदमों में! संन्यासी को उस पर दया आ गई और उसने उसे एक शीशी दी। शीशी में जो तेल था

*सन्यासी को उस पर दया आ गई और उसने उसे एक शीशी दी। शीशी में जो तेल था उसका फार्मूला संन्यासी को सपने में मिला था। यही तेल आगे जाकर “कुंतल केसरी” बना।*

उसका फार्मूला संन्यासी को सपने में मिला था। यही तेल आगे जाकर "कुंतल केसरी" बना। इस तेल के इस्तेमाल से शेर के बाल एक हफ्ते में ही वापस आ गए। इसलिए दुनिया भर के गंजों के लिए यह तेल एक वरदान जैसा ही है। जनहित के लिए यह खबर हर अखबार में छपी थी और एक बड़ी पत्रिका ने तो इसे मुखपृष्ठ तक बना डाला था।

28 सितम्बर को मैं "कुसन" नामक जहाज़ से यात्रा पर निकला। पहले दो दिन काफी आरामदायक और मज़ेदार रहे। लेकिन 1 तारीख को समुद्र में अजीब-सी हलचल हुई और समुद्री हवा एकदम थम गई। समुद्र की सतह ऐसी लग रही थी जैसे उसमें जकड़न-सी आ गई हो। जहाज़ के कप्तान की उदास सूरत देखकर हम और परेशान हो गए। उसने बताया कि एक बड़ा भारी चक्रवात हमारी तरफ बढ़ रहा है। हम लोग तट से बहुत दूर निकल आए थे इसलिए हमारा बचना अब बस भगवान के हाथों में था। इसके तुरन्त बाद आसमान गहरे काले बादलों से भर गया। कुछ ही पलों में अँधेरा-सा छा गया और तेज़ हवाएँ हमारे जहाज़ को थपेड़े मारने लगीं। उसके बाद जो हुआ मुझे बस हलका-सा ही याद है। लगता था जैसे हमारे मिथकों में बसनेवाले राक्षस वापस आ गए हों और दुनिया को नष्ट कर देना चाहते हों। समुद्र के उबलने की आवाज़ हवाओं की आवाज़ के साथ मिलकर बड़ा ही डरावना संगीत रच रही थी। लहरों पे लहरें हमारे जहाज़ को पीटती जा रहीं थीं एक बेहद ऊँची लहर हमारे मस्तूल और जीवन-नौका को भी उठा ले गई। हमारा आखिरी दिन, आखिरी क्षण हमारे सामने था।

आखिरी पलों में सब अपने नज़दीकी लोगों को याद करते हैं। मैं भी अपने परिवार को याद करने लगा। अपनी बेटी के मज़ाक को भी, "कुंतल केसरी रोज़ लगाना वरना गंजेलाल भोलूचन्द बन जाओगे बाबा!" जाते-जाते मैं अपनी बेटी को याद करना चाहता था। उसकी दी हुई आखिरी निशानी को अपने सर पे लगाकर मैं इस दुनिया से विदा होना चाहता था। मैं दौड़ता हुआ अपने कमरे में गया। वहाँ पानी भर चुका था लेकिन फिर भी अपने झोले में नीचे दबी हुई बोतल को मैंने ढूँढ निकाला और वापस डेक पर आ गया। और बोतल खोलने की कोशिश करने लगा। इतनी तेज़ हवाओं और लहरों के बीच बोतल खोलना और तेल लगाना आसान नहीं था। बोतल खोलते-खोलते आँखों से आँसू भी गिरने लगे। बेटी की बहुत याद आने लगी। अभी तेल हाथ में निकाला ही था कि एक और तेज़ लहर आई और बोतल मेरे हाथ से छिटककर पानी में जा गिरी। मुझे लगा मैंने अपनी बेटी का दिया आखिरी तोहफा भी खो दिया। लेकिन तभी देखते ही देखते समुद्र शान्त हो गया। एकदम शान्त जैसे कुछ हुआ ही ना हो। थोड़ी देर में सूरज भी निकल आया। ऐसा कैसे हुआ इसका ठीक-ठीक वैज्ञानिक स्पष्टीकरण तो मेरे पास नहीं है लेकिन जैसा कि उस जर्मन प्रोफेसर ने भी कहा – पानी पर तेल डालने से पानी नीचे रह जाता है और तेल ऊपर आ जाता है। और चक्रवात तो पानी में आने वाला था, तेल में नहीं। शायद "कुंतल केसरी" में इतनी ताकत थी कि उसने पानी के एक हिस्से को शान्त कर दिया जिससे आसपास का पानी भी शान्त होता चला गया। कहते हैं ना – एक इंसान आवाज़ उठाए तो बाकियों को भी आवाज़ उठाने की हिम्मत मिलती है।

इससे ज़्यादा मुझे कुछ नहीं पता। वैसे भी स्पष्टीकरण देना वैज्ञानिकों का काम है। मैं तो बस एक साधारण-सा आदमी हूँ जो सिर में तेल लगाने चला था लेकिन एक भयावह चक्रवात से भिड़ गया और बहुतों की जान बच गई। चकमक

**उसमें इतनी ताकत थी कि उसने पानी के एक हिस्से को शान्त कर दिया जिससे आसपास का पानी भी शान्त होता चला गया।**

# हमारे खेल मास्साब!

ज्ञान चतुर्वेदी

चित्रः अतनु राय

**आज**, सुबह-सुबह मेरे कान में बड़ा तेज़ दर्द हुआ।

दर्द अभी भी बना हुआ है और मुझे अपने पी.टी. सर याद आ रहे हैं। उन्हें हम "खेल मास्साब" भी कहते थे। कान दर्द से मेरा पहला परिचय पी.टी. सर ने ही कराया था। वे झापड़ ही ऐसा मारते थे। अपने झापड़ का नाम उन्होंने "कन्टाप" दे रखा था। एक कन्टाप ठीक से लगा दें तो सिर पूरे एक दिन तक झनझनाता रहता था। आँखों के सामने दो दिनों तक सितारे नाचते थे और कान तीन दिन तक दर्द करता था। स्कूल में वे हमें पी.टी. कराते, परेड करना सिखाते, मार्चपास्ट कराते, डम्बल लेज़म कराते, खेल खिलाते। बस एक घण्टे के खेल पीरियड में ही वे देश के लिए स्वस्थ नागरिक तथा उत्साही खिलाड़ी पैदा करने का "रेपीडेक्स कोर्स" सा कुछ करा डालते। वे बड़ी रुचि लेकर यह काम करते थे। वैसे, मुझे आज भी लगता है कि वे यह सब सिर्फ इसीलिए इतना मन लगाकर करते थे ताकि उन्हें हम लोगों की ठुकाई करने के मौके मिल सकें। ऐसा लगता था मानो हमारी सरकार ने उन्हें मूलतः बच्चों की मारपीट करने के लिए ही नौकरी पर रखा था। पी.टी. तो साथ-साथ यूँ ही बस हो जाती थी। उनके हाथ सदा कसमसाते रहते और लात को हमारे पिछवाड़े का पता मानो ज़ुबानी याद था। वे कब, किसको झापड़ कस दें और किस बच्चे को, किस बात पर लतिया दें यह बात शायद वे स्वयं भी नहीं जानते थे। ईश्वर ने उन्हें शायद बच्चों की मारपीट के लिए ही पैदा किया था ताकि स्कूली बच्चे जान सकें कि दुनिया ऐसी आसान शय नहीं है!

उन्होंने बच्चों को ठोंकने-पीटने के काम को कला का दर्जा दे दिया था। लगता था, जैसे उन्होंने मारपीट का कोई स्पेशल कोर्स किया हो। या शायद यह उनकी कुदरती कला थी। वे हर बार किसी नए तरीके से मारते थे। इस तरह वे मारपीट में वेरायटी बनाकर रखते थे। ठुकाई में वे प्रयोगवादी थे। हाथ को एकदम ढीला करके, कभी हाथ को असम्भव कोण

पर घुमा के, कभी घूँसा बनाकर, कभी हथेली को पूरा फैलाकर, कभी पूरे गाल पर, कभी कान को शामिल करते हुए आधे गाल पर, कभी सटाक से, कभी झन्नाटेदार, कभी पटाखे-सी आवाज़ करनेवाला, कभी दोनों गालों पर एक साथ – वे मानो लप्पड़ विशेषज्ञ थे। इतनी तरह से झापड़ घुमाते थे कि बच्चा और वे, दोनों, कभी एकरसता से बोर नहीं हो सकते थे। पिटने के बाद भी बच्चे की ईमानदार राय यही होती थी कि सर, कमाल का मारते हैं पर। मारने में पी.एच.डी. से थे, और यदि विश्वविद्यालय का कोई ज़िम्मेदार अधिकारी कभी हमारे स्कूल की टूटी हुई बाउन्ड्री से लगी सड़क से एक बार भी गुज़र गया होता तो मैदान का नज़ारा देखकर उनको मानद डी.लिट भी दे डालता। हमारे स्कूल के मैदान में जैसी मारकुटाई चलती थी, वैसी कदाचित प्लासी के मैदान में भी न मची होगी।

हम बच्चे खान साब के चक्कर में आस्तिक हो चले थे।

हम ईश्वर को धन्यवाद देते कि उसने हमारे खेल मास्साब को दो ही पैर दिए, कहीं वे चौपाया हुए होते तो एक साथ चार बच्चों को लतियाया करते। वैसे, वे अभी भी, एक साथ, चार छात्रों की कुटाई कर लेते थे। एक ही समय में वे एक छात्र को कन्टाप मारते, दूसरे को बेत फटकारते, तीसरे को सामने से लात मारते और चौथे को पीछे की तरफ लात घुमाकर मार सकते थे। यहाँ, यह सब पढ़ते हुए कोई यह जायज़ प्रश्न उठा सकता है कि जब वे एक साथ दोनों टाँगों को हवा में उठाकर पीटते थे तो दोनों उठ जाने पर भी वे गिरते क्यों नहीं थे? यह मैं स्वयं भी नहीं बता सकता कि वे कैसे यह चमत्कार करते थे?

यह बात सोचने पर देखने की फुर्सत ही किसके पास थी? शायद पी.टी. सर का ऐसा कुछ दबदबा स्कूल के वायुमण्डल पर भी रहा हो कि ग्राउंड की हवा उन्हें डर के मारे हवा में ही तैराए रखती होगी, और मैदान की तो खैर ऐसी औकात ही कहाँ थी कि वह खान साहब को खुद पर गिरता देख सके!

हमारे मैदान की बाउन्ड्री जगह-जगह से टूटी हुई थी। नतीजा यह होता कि गाँव का समस्त पशुधन इसी मैदान में आकर आराम करता था। स्कूल में क्लास टाईप लग जाती थी, पशुओं की। भैंसें, गाय, बैल, कुत्ते, बकरी आते और अपनी-अपनी मनपसन्द जगहें पकड़कर बैठ जाते। वहीं बैठकर वे स्कूल की तरफ देखते रहते। ये किसी हसरत की निगाहें नहीं थीं। मुझे तो लगता है कि वे सन्तोष तथा धन्यवाद की निगाहों से स्कूल की इमारत को ताकते थे। वे धन्यवाद देते लगते कि वे आदमी के

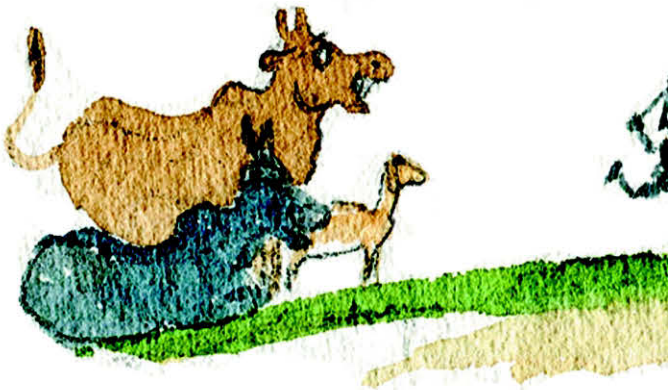

बच्चे न हुए वरना इस काँजीहाउस में वे भी फँस गए होते! हमारा यह मैदान बड़ा ऊबड़-खाबड़ था। गाय, भैंसें अलबत्ता इस ऊबड़-खाबड़पन को गोबर द्वारा समतल करने में अपना विनम्र योगदान देती थीं। एकाध बार, दौड़ में, मैं मात्र इसी वजह से अव्वल आ गया क्योंकि दौड़ते हुए इस गोबर पर फिसलकर मेरी गति दुगनी हो गई थी।...

हमारा खेल पीरियड शुरू होते ही, हमारी पहली एक्सरसाइज़ यही होती थी कि हम लोग, मास्साब के कुशल निर्देशन में इन जानवरों को मैदान से बाहर खदेड़कर मैदान खाली कराते। मास्साब, इसी मैदान में कुछ बच्चों को हॉकी या फुटबॉल खेलने में लगा देते, कुछ को डम्बल करवाते और बाकी को लेज़म पकड़ा देते। खान साब चाहते थे कि बच्चे हर खेल में अव्वल रहें – इस चक्कर में, हम कोई भी खेल पूरी तरह नहीं सीख पाए। वैसे, हॉकी उनका सर्वाधिक प्रिय खेल था। पर दिक्कत बस इतनी सी थी कि स्कूल के खेल स्टोर में बस आठ ही हॉकियाँ थीं। इतनी कम हाकियों के साथ दो टीमें बनाना एक कठिन काम था। मास्साब अपने चहेतों को तो हॉकी देते, बाकी लड़कों को आदेश था कि घर से ही अपनी लाठी लेकर आया करो। वे रहस्य-सा खोलकर, गर्व के

गाँव की भैंसें, गाय, बैल अपनी-अपनी मनपसन्द जगहें पकड़कर बैठ जाते। तथा धन्यवाद की निगाहों से स्कूल की इमारत को ताकते कि वे आदमी के बच्चे न हुए वरना इस काँजीहाउस में वे भी फँस गए होते!

चित्रः अतनु राय

साथ मुस्कराकर यह भी बताते कि यदि तुम लोग सीधी लाठी से ही गेंद को ज़रा बढ़िया मार लेते हो तो यह सोचो कि कभी तुम्हें जो सहीवाली हॉकी मिल पाई तो फिर तुम कैसा गज़ब ढा दोगे। वे स्वयं भी एक लाठी लेकर, रैफरी के तौर पर हमारे साथ-साथ दौड़ते रहते। दौड़ते बच्चों को वे ऐसे कौशल से मारते कि आपकी सलाम करने की तमन्ना हो उठे। "अबे, इत्ता धीमा क्यों दौड़ रहा है? बॉल क्या तेरे बाप की नौकर है कि खड़ी तेरा इन्तज़ार करेगी?" या "अबे, इत्ता तेज़ क्यों भाग रहा है? क्या बॉल से पहले ही गोल में घुसने का इरादा है तेरा?" – वे हर स्थिति में ठुकाई का कारण खोज लेते थे।

उनका यह स्थायी आदेश था कि तुम सबको एक दिन ध्यानचन्द बनकर बतलाना है। इससे कम किसी चीज़ पर वे राज़ी नहीं थे। मास्साब का मानना था कि सरकार ने उन्हें वेतन इसी बात का दिया है कि वे हममें से हर साल कुछ ध्यानचन्द बनाएँ और बनाते ही चले जाएँ। ध्यानचन्द बनाने का उनका फॉर्मूला भी एकदम सरल था। वे मानते थे कि यदि बच्चे को प्रतिदिन चार करारे तथा दो साधारण गतिवाले लप्पड़ रसीद किए जाएँ और गोल के आसपास डी–क्षेत्र में आने पर उसे लात मारकर उसकी गति को रोज़ थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते जाएँ तो इस ज़रा-सी ठोंक-पीट द्वारा ही एक बढ़िया-सा ध्यानचन्द पैदा किया जा सकता है। मेरा मन कई बार करता था कि पूछूँ, पर डर के कारण कभी उनसे पूछ नहीं पाया कि जो असली ध्यानचन्द जी हुए थे वे कितनी मारकुटाई के बाद ध्यानचन्द बन पाए थे?

वैसे उन्हें फुटबाल से भी प्रेम तो था।

फुटबॉल से उनका प्रेम कई कारणों से था। पहला कारण तो यही था कि यह लात मारने से ताल्लुक रखनेवाला खेल होता है। जो उन्हें वैसे भी अत्यन्त प्रिय चीज़ थी। वे तो मैदान के बाहर भी जब कभी हमें गरियाते थे तो यही कहते थे कि तुझे ऐसी लात लगाऊँगा कि तू फुटबॉल जैसा उछल जाएगा। दूसरा कारण यह भी था कि फुटबॉल इस मामले में एक अच्छा खेल था कि इसमें मात्र एक गेंद से ही पूरा खेल हो जाता था। वैसे, हमारे स्कूल की वह एकमात्र फुटबॉल भी एक सतत पंक्चर रहनेवाली गेंद थी। उसका ब्लेडर कुछ ऐसा नाज़ुक था कि वह हमेशा पंक्चर ही रहता। शायद, ऐसा करके वह फुटबॉल लात खाने से बचना चाहती थी। इधर खान साब फुटबॉल का इरादा सफल नहीं होने देते थे। वे फुटबॉल के इस षडयंत्र को समझते थे। इसीलिए हममें से

*(शेष भाग पेज 31 पर)*

**इस** किस्से को कितने बरस हो गए हैं पर इसमें एक भी सल नहीं आई है। एकदम ताज़ा है। स्वामीनाथन के साथ हम कुछ लोग झाबुआ गए थे। उस इलाके से हम भारत भवन के लिए लोकचित्र जुटाना चाहते थे। उन दिनों वहाँ भगोरिया हाट भरा था। स्वामी हमें भगोरिया हाट दिखाने ले गए। हम सुबह उठते। तैयार होते और घूमने निकल पड़ते। दिन भर थमकर और चलकर हाट देखते रहते। उसके चित्र बनाते। शाम को स्वामी के पास जुड़ते। अपना देखा-सुना उन्हें बताते। एक दिन मैं भी एक चित्र उन्हें दिखाने के लिए आगे बढ़ाया। वे बड़ी देर तक उसे देखते रहे। फिर बोले, "तुमने बड़ी बारीकी से चित्र बनाया है। पर इसमें एक अहम चीज़ नदारद है। इसमें हाट की ध्वनि गुम है। इतने लोगों का शोर वह इस चित्र में कहाँ है? क्या चित्र में ध्वनि लाई जा सकती है?" मैं इसी सोच में डूबा रहा। बात आई गई हो गई। फिर एक दिन भारत भवन में मैं किसी चित्र को देख रहा था। उस चित्र में मुझे साफ-साफ ध्वनि दिखाई दे रही थी। स्वामी की वह बात याद आई। जो चीज़ें दिखती हैं क्या सिर्फ उन्हें ही चित्रित किया जा सकता है? मन में जो भाव उठते हैं, संगीत आदि कितनी चीज़ें हैं क्या उन्हें चित्रित नहीं किया जा सकता है? आगे ऐसे कई सवालों के जबाव मुझे मिलते रहे। मसलन, संगीत को सुनते हुए कितने बिम्ब मन में आते हैं। खैर!

देवीलाल पाटीदार

# चित्र में आवाज़ाई

*पहले चित्र में ओंकारेश्वर के मेले की भीड़ और शोर*

इस चित्र में पानी की आवाज़ है। नदी बहने की आवाज़ है और कपड़े धोने, नहाने की भी। नदी में जहाँ-जहाँ पत्थरों की बाधाएँ हैं वहाँ पानी सफेद है। पत्थरों से पानी के टकराने की आवाज़। टकराकर गिरने की आवाज़। दो पत्थरों के बीच से ज़ोर से बहने की आवाज़। जहाँ आवाज़ है वहाँ पानी सफेद है। बाकी जगह वह नीला है। पानी वहीं बह रहा है जहाँ लोग खड़े हैं, जहाँ पत्थर हैं। शान्त के फैलाव के बीच ध्वनि का उभार।

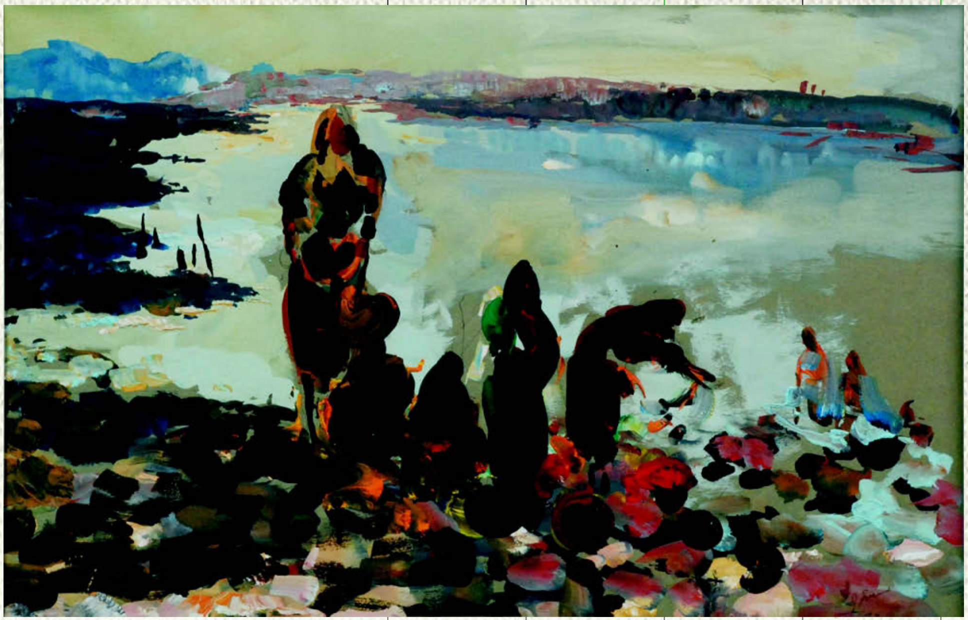

*पानी के टकराने और टकराकर गिरने की आवाज़।*

मैं डी. जे. जोशी के दो चित्रों के सहारे से अपनी बात रखने की कोशिश करता हूँ।

पहला चित्र ओंकारेश्वर में लगनेवाले एक मेले का चित्र है। डी.जे. जोशी इस क्षेत्र से अच्छी तरह वाकिफ हैं – यहाँ के लैंडस्केप से, भूगोल से, यहाँ की टोपोग्राफी से, यहाँ भरनेवाले मेले के महत्व से। इस चित्र में वे इन सब को बहुत ही सूझबूझ और कल्पना से खींच लाए हैं। मेले में हज़ारों लोग हैं। कई दुकानदार हैं। पूजा-पाठ हैं। गाजे-बाजे हैं। सब का अपना-अपना शोर है। इस मेले को, उसके पूरे माहौल के समेत दिखाना है। पर पूरा मेला तो दूर से ही दिख सकता है। इसलिए वे खुद को दूर एक पहाड़ पर ले जाते हैं। मेला आज के दिन का खास आयोजन है। और वे उसी को दिखाना चाहते हैं। इसके लिए वे एक कमाल की तरकीब (डिवाइस) का इस्तेमाल करते हैं। उन्होंने चित्रों में रंग बरतने के नियमों को कुछ देर के लिए ताक पर रख दिया। नियम के अनुसार दूर की चीज़ को धुँधला और फीका-सा दिखना चाहिए था। पर कलाकार ने यहाँ बहुत ही सूझबूझ से उन रंगों को इस्तेमाल किया जो देखनेवालों को सबसे पहले दिखाई देते हैं। जैसे पीला, लाल, नारंगी। और मेले को चटक पीले-नारंगी-लाल रंगों से रंग दिया। पर नियमों में यह छूट उन्होंने सिर्फ मेला दिखाने के लिए ली। पूरे चित्र के लिए नहीं! बाकी के चित्र में आसपास के पहाड़, पेड़, वादियाँ जिनके बीच मेला भरा था, सब फीके नीले-हरे रंग के ही रहे। यही वजह है कि इस पेंटिंग में मेले की भीड़ कुछ आगे आ गई है। अगर ऐसा न होता तो पेंटिंग में यह आगा-पीछा न दिखता। यह कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे कैमरे को ज़ूम कर दूर की किसी चीज़ को पास लाकर दिखाना। रंगों के इस बेहद कल्पनाशील इस्तेमाल से मेले की गहमा-गहमी, उसकी ऊष्मा, उसके शोर को (कलाकार से) इतनी दूर होने के बावजूद करीब से महसूस किया जा सकता है।

अगले पन्ने पर जारी

**आग के रंग तो बहुत चटक होते हैं। उनका एक अपना शोर होता है। दरअसल लाल-पीले या इससे बननेवाले रंग बहुत बोलनेवाले या वाचाल रंग माने जाते हैं।**

**चित्र में ये रंग दर्शक को मेले के पास ले आए और भीड़ का शोर भी महसूस करवा पाए।**

## गुगली

राजेन्द्र धोड़पकर

पिछले पन्ने से जारी

पर मेले के शोर के बिना मेला पूरा नहीं होता। और वे जिस दूर पहाड़ पर खड़े थे वहाँ इस शोर से बाहर निकलकर ही पहुँचा जा सकता था। पर कमाल तो यह है कि जो रंग मेले को देखनेवालों के करीब ले आए थे वही तस्वीर में आवाज़ भी ले आए। ये जो लाल-पीले रंगों से आग की तरह पूरे मेले को देखना है इसमें ध्वनि का खेल शामिल है। जंगल की आग का भी अपना एक शोर होता है। जो चीज़ें निर्जीव हैं उनकी भी एक आवाज़ होती है। और आग के रंग तो बहुत चटक होते हैं। उनका एक अपना शोर होता है। दरअसल लाल-पीले या इससे बननेवाले रंग बहुत बोलनेवाले या वाचाल रंग माने जाते हैं।

इस चित्र में चित्रकार ने मेले को चटक लाल-पीले-नारंगी रंगों से दिखाते हुए भी अपने दो काम पूरे किए हैं – एक तो इससे वे उस क्षेत्र की अपनी पहचान को दिखा पाए। और दूसरे, दूर के मेले को चटक रंगों से दर्शक के पास ले आए और भीड़ का शोर भी महसूस करवा पाए।

जिस पहाड़ी पर वे खड़े हैं उसे भी ऐसा बनाया है जो हमें दिखता नहीं है। जो चीज़ उनके नज़दीक है उसके कोई विवरण नहीं बनाए हैं। उसे कच्चा-सा बना दिया है। ताकि वह हमारी आँख को रोके नहीं। वे हमें सीधे कहीं और ले जाना चाहते हैं। दूर मेले के आसपास के पहाड़ों, पेड़ों, शायद नदी को भी बारीकी से चित्रित नहीं किया है। चित्रकला में डीटेलिंग हमारी आँख को अपने पास ले आती है और उसे देर तक रोके रखती है। इसलिए अगर चित्रकार हमको किसी जगह पर देर तक रोकना चाहता है तो उस जगह पर वो थोड़ा ज़्यादा काम करता है। और उस काम को देखने के बहाने हम अपनी आँख को देर तक वहीं टिकाए रखते हैं।

इस चित्र में मेले का दृश्य कितना छोटा-सा है। जैसे आकाश के नीले विस्तार में चाँद। क्या कभी यह बात मन में आती है कि जब चित्रकार को चाँद दिखाना है तो आकाश के अनुपात में उसे इतनी कम जगह क्यों दी गई? पर क्या इस विशाल नीले ने ही उसे उभारा भी नहीं होता है?

## हमारे खेल मास्साब!

*(पेज 27 का शेष भाग)*

एक लड़के की पम्प ड्यूटी होती थी। वह खेल के शुरू में पम्प से हवा भरकर फुटबॉल को खेल के लायक फुलाता था और फिर पूरे खेल के दौरान पम्प लेकर साथ-साथ दौड़ता रहता था। फुटबॉल ऐसी थी कि पाँच मिनट तक भी लातें खा लेती तो वापस पहले जैसी पिचक जाती। तब खेल रुक जाता। फिर जब तक गेंद में दोबारा हवा भरी जाती, तब तक खान साब उस लड़के की कान कुच्ची करते जिसने उसमें आखिरी लात मारी थी। वे कान को घुमाते जाते और साथ में फटकारते जाते कि जब तुझे पता है कि अपनी फुटबॉल ऐसी कमज़ोर है तो तू इसको इतनी तेज़ लात काहे मारता है रे? तुझे गोल करने की ऐसी क्या जल्दी पड़ी है बे? न तो ये गोल कहीं भागे जा रहा है, न ही ये फुटबॉल!

आज अपने खेल मास्साब के बारे में सोचता हूँ तो यही समझने की कोशिश करता हूँ कि वे ऐसे क्यों थे? बच्चों को मारकर उन्हें क्या मज़ा आता था? और क्यों आता था? पता नहीं है कि सही उत्तर क्या है। पर आज कान का दर्द उठा और खेल मास्साब याद आ गए तो मैंने उन्हें बड़े प्यार से ही याद किया।... बचपन होता ही ऐसा है कि इसे जब भी याद करो तो तबकी हर कड़वी चीज़ भी मीठा स्वाद देती है। अभी खेल मास्साब को याद किया तो एक मिठास से भर गया है मेरा मन!

# कुरुसावा - बचपन का कुछ कुछ

अकीरा कुरुसावा (मार्च 1910-सितम्बर 1998)की गिनती दुनिया के महान फिल्मकारों में होती है। फिल्म निर्देशन, पटकथा लेखन, सम्पादन सभी में उन्हें महारत हासिल थी। यहाँ पेश हैं उनकी आत्मकथा *समथिंग लाइक ए ऑटोबायोग्राफी* का एक अंश...

**बात** तब की है जब मैं अपनी कक्षा के दूसरे बच्चों से पढ़ाई-लिखाई में काफी पीछे था। बहुत भीरू और रोतला भी था। तो वो ड्रॉइंग का पीरियड था। उस वक्त कला की शिक्षा बड़े बेतरतीब तरीके से होती थी। टीचर कोई भी नीरस तस्वीर सामने रख देते और बच्चों को बस उसकी नकल करनी होती। जिसकी नकल और तस्वीर में बहुत कम अन्तर होता उसे सबसे ज़्यादा नम्बर मिलते। पर हमारे नए टीचर ताचीवाका सेजी का ऐसी किसी बेवकूफी पर यकीन नहीं था। एक दिन उन्होंने कहा, "जो मन करे बनाओ।" सबने कागज़ और रंगीन पेंसिलें उठाई और शुरू हो गए। मैं भी बनाने में लग गया। मुझे अब याद तो नहीं कि मैं क्या बनाने की कोशिश में था। हाँ, इतना याद है कि मैंने पूरे मन से एक चित्र बनाया। और इतना ज़ोर लगाकर पेंसिल चलाई कि वो टूट ही गई। फिर मैंने अपनी उँगलियों पर थूक लगाई और रंगों को सब जगह फैला दिया। इस पूरी कवायद में मेरे पूरे हाथ रंग-बिरंगे हो गए थे। सबके चित्र बन चुके तो श्री ताचीवाका ने सारे चित्र ब्लैक बोर्ड पर लगा दिए। फिर उन्होंने सबसे कहा कि वे हर चित्र पर खुले मन से जो कहना चाहते हैं कहें। मेरे चित्र की बारी आई तो पूरी क्लास ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी। इस पर ताचीवाका ने सबको घूरकर देखा और फिर मेरे चित्र की बेहद तारीफ की। इतनी तारीफ कि आसमान भी कम पड़ जाए। मुझे यह तो नहीं याद कि वे बोले क्या थे। पर इतना याद है कि जिन-जिन जगहों पर मैंने थूक लगी उँगलियों से रंगों को रगड़ा था वहाँ-वहाँ उन्होंने सबका खास ध्यान खींचा था। फिर उन्होंने मेरे चित्र के इर्दगिर्द लाल स्याही से तीन बड़े गोले बनाए। यानी सबसे ज़्यादा नम्बर। मुझे यह अच्छे से याद है। उस दिन के बाद से हालाँकि स्कूल से मेरी नफरत कम नहीं हुई पर जिन दिनों ड्रॉइंग का पीरियड होता किसी उम्मीद से मैं स्कूल पहुँचने की जल्दी में होता। उन तीन गोलों ने कुछ ऐसा जादू किया था कि मैं बहुत ही मन से हर चीज़ का चित्र बनाने लगा था। मेरी ड्रॉइंग सचमुच बहुत सुधर गई थी। इतना ही नहीं अचानक बाकी विषयों में भी मुझे अच्छे नम्बर मिलने लग गए थे। जब तक श्री ताचीवाका का यह स्कूल छोड़ने का वक्त आया मैं अपनी कक्षा का अध्यक्ष बन गया था। मेरे सीने पर बैंगनी रिबनवाला एक सुनहरा बैज चमक रहा था...

# बुलबुले कैसे बनते हैं? गोल ही क्यों होते हैं?

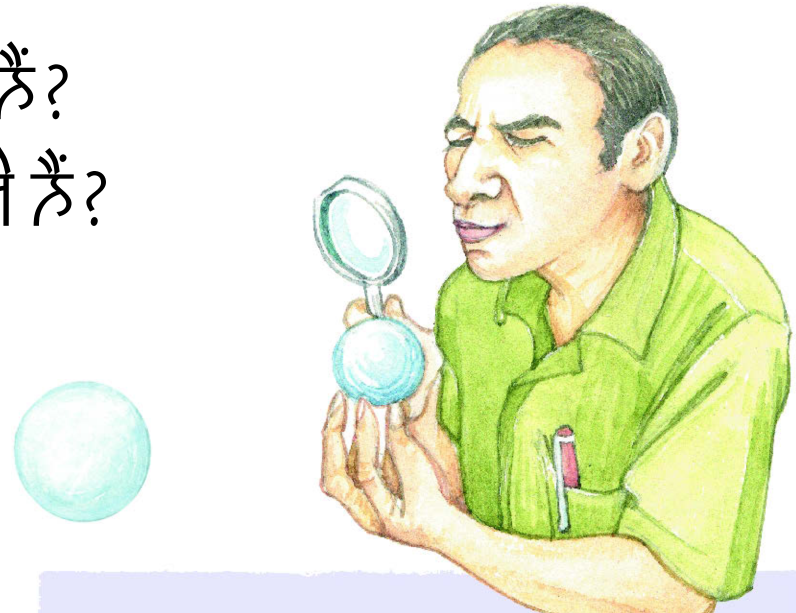

प्रिय सवालीराम जी,

हम आजकल विज्ञान में हवा के बारे में सीख रहे हैं। हमारी किताब में एक प्रश्न है – बुलबुले कैसे बनते हैं? हमको लगता है कि जब पानी सूखी मिट्टी पर गिरता है। तब मिट्टी में छिपी हवा ऊपर उठती है और पानी की बूँदों में घुसकर उनके बुलबुले बनाती हैं। क्या ऐसे ही बुलबुले बनते हैं? बुलबुले हमेशा गोल ही क्यों होते हैं? वे वर्ग, आयत, त्रिभुज, लम्बे, ककड़ी जैसे क्यों नहीं होते हैं?

जैसे गुब्बारे गोल, ककड़ी जैसे और दिल जैसे होते हैं, वैसे ही बुलबुले क्यों नहीं होते? क्या साबुन या किसी और तरल चीज़ के बुलबुले अलग-अलग आकारों के बनते हैं? हम रतनजोत के पत्तों के रस से बुलबुले बनाते हैं। वे भी गोल ही बनते हैं।

आपके यहाँ सभी को नमस्कार..!!

**सीमा कोर्राम**

बालेंगा पारा, पोस्ट- किबई बालेंगा
कोण्डागाँव-424226, छत्तीसगढ़
कक्षा- चौथी
इमली महुआ विद्यालय

सुशील जोशी

चित्रः दिलीप चिंचालकर

**यह** तो तुमने सही पकड़ लिया कि पानी की बूँद में हवा घुस जाती है तो बुलबुले बन जाते हैं। वास्तव में बुलबुले पानी या किसी और तरल पदार्थ की पतली परत यानी झिल्ली के अन्दर बन्द हवा ही होती है। दूसरे शब्दों में बुलबुले वास्तव में फुग्गे ही हैं जिनकी बाहरी झिल्ली रबर की नहीं बल्कि पानी की बनी है। इसी से यह भी समझ में आ सकता है कि बुलबुले गोल क्यों होते हैं।

अन्दर भरी है हवा और बाहर भी है हवा। बीच में है पानी की महीन झिल्ली। पानी की झिल्ली बनाना बहुत आसान नहीं होता। जब ऐसी झिल्ली बनती है तो वह बहुत टेंशन में रहती है। यह तो जानी-मानी बात है कि जहाँ भी टेंशन होगा वहाँ ऐसा कुछ ज़रूर होगा कि टेंशन कम हो जाए। पानी की झिल्ली जितनी छोटी होगी टेंशन उतना ही कम होगा। इसलिए झिल्ली छोटी-से-छोटी होने की कोशिश करती है। वास्तव में शुद्ध पानी की बजाय यदि पानी में थोड़ा साबुन घोलकर झिल्ली बनाएँ तो ज़्यादा आसान रहता है क्योंकि साबुन के पानी की झिल्ली में टेंशन थोड़ा कम रहता है। तुमने देखा ही होगा कि साबुन के पानी के बुलबुले बहुत अच्छे और बड़े-बड़े बनते हैं।

बुलबुले में दो बल लग रहे हैं – बुलबुले के अन्दर की हवा बाहर निकल जाना चाहती है। तो वह पानी की इस झिल्ली को बाहर की ओर धक्का मारती है। हवा सोच-समझकर तो धक्का मारती नहीं। चारों ओर बराबर धक्का मारती है।

दूसरा है कि पानी की झिल्ली छोटी-से-छोटी होना चाहती है। छोटी होने की कोशिश करेगी तो अन्दर की हवा को दबाएगी। झिल्ली चारों तरफ से बराबर-बराबर दबाव डालती है।

पानी की जो झिल्ली बुलबुले के चारों तरफ बनी है वह एकदम लचीली है। उसका कोई अपना आकार तो है नहीं। तो जैसा बल लगेगा उसी हिसाब से उसका आकार बन जाएगा। जब चारों ओर बराबर धक्का लगेगा तो पानी की झिल्ली गोलाकार हो ही जाएगी।

इसी बात को एक और तरीके से देखते हैं। बुलबुले में हवा की एक निश्चित मात्रा भरी है। अब पानी की झिल्ली का क्षेत्रफल कम से कम रहना है। यानी आयतन को स्थिर रखते हुए सतह का क्षेत्रफल कम से कम करना है। हम हिसाब-किताब करके बता सकते हैं कि यदि हम एक निश्चित आयतन की अलग-अलग आकृतियाँ बनाएँगे तो गोले में सतह का क्षेत्रफल सबसे कम निकलेगा। बुलबुले में यही होता है – हवा के एक निश्चित आयतन को गोलाकार झिल्ली में बन्द कर दिया जाता है, जिससे सतह (यानी बाहरी झिल्ली) का क्षेत्रफल कम से कम रहे ताकि झिल्ली पर तनाव कम से कम रहे।

अब जब झिल्ली इतनी तनाव में है तो टिकाऊ तो होगी नहीं। इसलिए जब किसी अस्थिर वस्तु की बात करनी होती है तो उसे बुलबुले की संज्ञा देते हैं।

सुशील जोशी

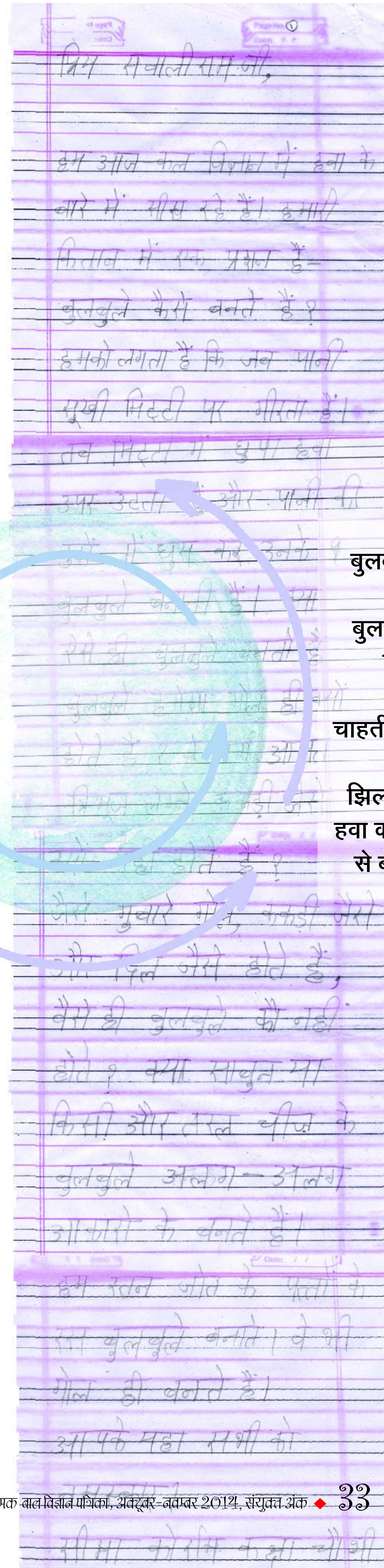
प्रिय सुशील सर जी,

हम आज-कल विज्ञान में हवा के बारे में सीख रहे हैं। हमारी किताब में एक प्रश्न है- बुलबुले कैसे बनते हैं? हमको लगता है कि जब पानी सूखी मिट्टी पर गिरता है। तब मिट्टी में छुपी हवा ऊपर उठती है और पानी की [illegible] में घुस कर उनके बुलबुले बनाती है। क्या ऐसे ही बुलबुले बनाते हैं? बुलबुले हमेशा गोल ही क्यों होते हैं? [illegible] क्यों नहीं होते हैं? जैसे गुब्बारे गोल, ककड़ी जैसे और दिल जैसे होते हैं, वैसे ही बुलबुले क्यों नहीं होते? क्या साबुन या किसी और तरल चीज़ के बुलबुले अलग-अलग आकारों के बनते हैं।

हम रतन जोत के पत्तों के रस बुलबुले बनाते। वे भी गोल ही बनते हैं।

आपके यहाँ सभी को नमस्कार।

सीमा कोरमि कक्षा चौथी

**बुलबुले में दो बल लग रहे हैं – बुलबुले के अन्दर की हवा बाहर निकल जाना चाहती है। दूसरा है कि पानी की झिल्ली अन्दर की हवा को चारों तरफ से बराबर-बराबर दबाती है।**

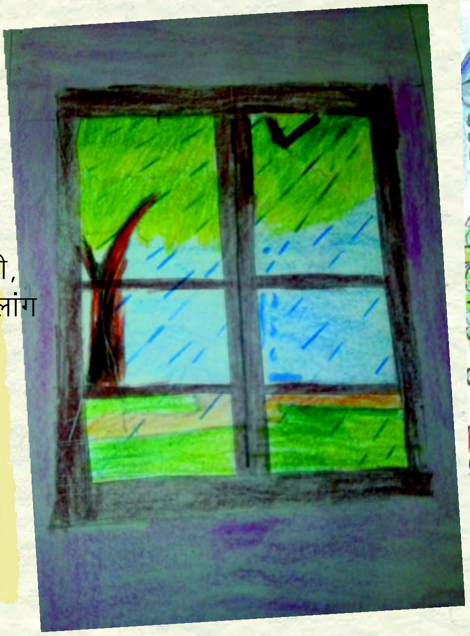

आशा डे, दूसरी,
आरकेएम, शिलांग

अर्शिता गोयल, तीसरी, डीपीएस लुधियाना

दिनेश,
आशा समूह,
दिगन्तर, जयपुर

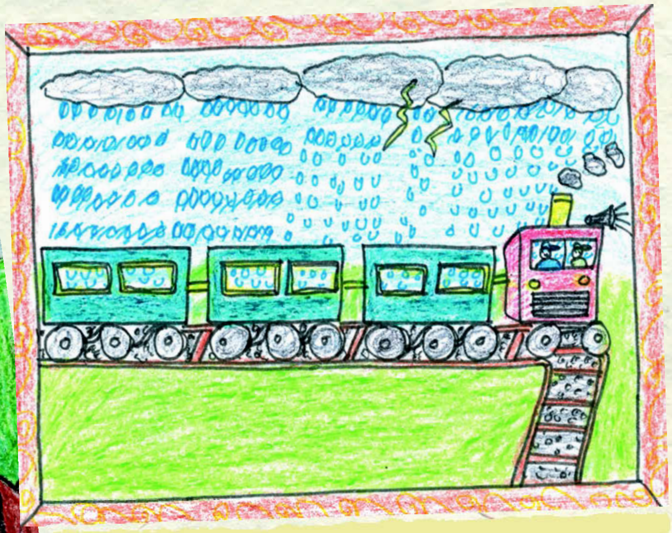

श्रेया औदिच्य, चौथी, आनन्द विहार स्कूल, भोपाल

*लम्बी-चौड़ी चौरस गोल*
*खोल कोई तो खिड़की खोल*

सूरज, ग्यारह वर्ष, मंज़िल, दिल्ली

रुबिग, तीसरी, डीपीएस लुधियाना

## चुनिन्दा बारह चित्र

त्सेरिंग गोम्बू, पाँचवीं, तवांग, अरुणाचल प्रदेश

महक, नवीं,
डीएवी स्कूल, गुड़गाँव

जान्हवी राठौर, चौथी,
आनन्द विहार स्कूल,
भोपाल

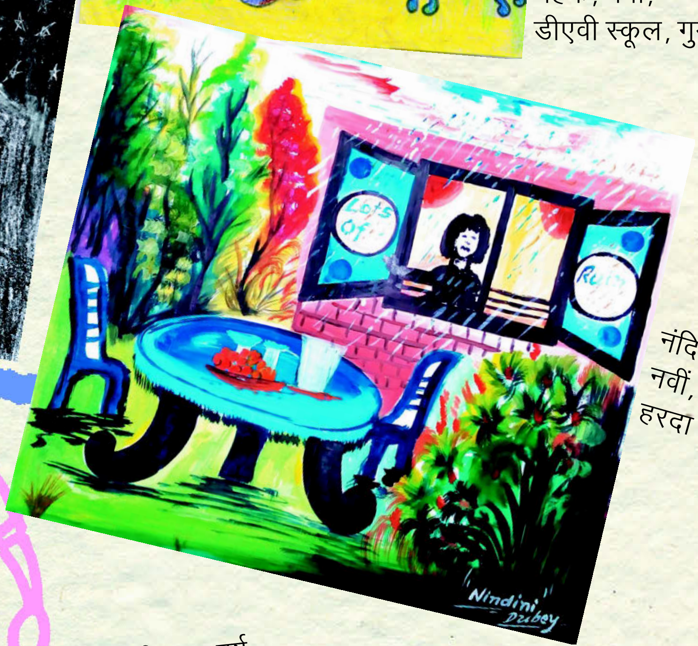



नंदिनी दुबे,
नवीं, चारुवा,
हरदा

बारिश में इसके शीशों पर
बूँदें लिख जाती हैं बोल

गुलज़ार

रिंकी, दस वर्ष,
मंज़िल, दिल्ली

खुशराज, तीसरी, डीपीएस, लुधियाना

"ताकि वे दुनिया के साथ आगे बढ़ें"
विद्यार्थियों को स्मार्ट फोन
मध्यप्रदेश के युवाओं को अन्य विकसित देशों के विद्यार्थियों की बराबरी पर लाने और संचार के विभिन्न माध्यमों के ज्ञान से उन्हें सशक्त बनाने के उद्देश्य से राज्य शासन ने एक अभिनव पहल की है।
अब शासकीय कॉलेजों में पहले सेमेस्टर में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों को मिलेंगे नि:शुल्क स्मार्ट फोन।
राज्य शासन की इस पहल से वर्ष 2014-15 के सत्र में एक लाख 55 हजार विद्यार्थी लाभान्वित होंगे।
शिवराज सिंह चौहान,
मुख्यमंत्री
मजबूत कल की ओर - मध्यप्रदेश सरकार
मध्यप्रदेश जनसम्पर्क द्वारा जारी
आकल्पन : म.प्र. माध्यम/2014
D76356 दिनांक 12/9/2014

Ratna Sagar

We train more than 50,000 teachers every year

More than 1,00,00,000 Ratna Sagar books used by schools every year

e-live
Enriched Digital Content for effective classroom teaching

Communicate in English
The most-loved English course for schools

Caring for the environment: an ISO 14001: 2004 Certified Company

Living Science
The pioneering series in 4-colour textbooks

EDUCATION, OUR MISSION

Ratna Sagar P. Ltd.

Education, Our Mission

BYWORD BOOKS | PRIMUS BOOKS | Super teacher | e-live | ISO an ISO 9001:2008 and 14001:2004 company

VIRAT BHAVAN, COMMERCIAL COMPLEX, MUKHERJEE NAGAR, DELHI 110009
P: (011) 47038000
F: (011) 47038099

EMAIL rsagar@ratnasagar.com
WEBSITE ratnasagar.com

EDUCATION NEWS rsgr.in/rsfcbk
LATEST ON EDUCATION rsgr.in/rstweets

BUY ONLINE rsgr.in/rsbuy
SMS/NEWSLETTERS rsgr.in/rsnews

DISCUSS EDUCATION rsgr.in/rsdiscuss
VIDEOS rsgr.in/rsvideos

BRANCHES Chennai ◆ Lucknow   SHOWROOM Darya Ganj, New Delhi

OFFICES Agra ◆ Ahmadabad ◆ Bengaluru ◆ Bhopal ◆ Coimbatore ◆ Dehradun ◆ Guwahati ◆ Hyderabad ◆ Jaipur ◆ Jalandhar ◆ Kanpur ◆ Kochi ◆ Kolkata ◆ Madurai ◆ Mumbai ◆ Patna ◆ Ranchi ◆ Varanasi

# बच्चों के चित्र

विनोद कुमार शुक्ल

**बच्चों** के बनाए चित्रों को देखकर सोचता हूँ कि वे किस तरह अपने देखने को सोचते हैं।

उनके सोचने में जो उनके बनाए चित्र हैं, यदि मैं कुछ बता रहा हूँ तो क्या मेरा ऐसा करना उनके सोचे में बाहरी हस्तक्षेप होगा? कम से कम उनके बचपने में मेरी उम्र का तो होगा। और मेरा सोचना उनके बचपने तक नहीं पहुँच सकता। परन्तु, कुछ हद तक मैं अपने बचपने की सोच लेता हूँ।

कोई रचना जब प्रकाशित होती है तो दूसरों के हिस्से में भी आ जाती है। चाहे कविता, कहानी भी हो। शाहजहाँ का ताजमहल भी क्यों न हो, मेरे देखने के हिस्से में तो आ ही जाता है। और बच्चों के ये चित्र मेरे भी हिस्से के हैं। शायद मेरे बचपने तक के। बचपन में मैं भी चित्र बनाता था। पर इतने अच्छे नहीं।

और चित्रों के बारे में चित्र बनाकर कहना कुछ इस तरह का वार्तालाप होता, जैसे दो गूँगे स्लेट-पट्टी में लिखकर बात करते हैं, उनके चित्र को देखकर मैं भी चित्र बनाता तो यह कितना अच्छा होता। अभी की उम्र के बने चित्र होते! जहाँ देखने का मामला हो वहाँ सब कुछ केवल देख और दिखाकर बताया जा सकता है।

बच्चों के बनाए इतने चित्रों को एक साथ देखकर मैं बच्चों के देखने और सोचने को ढेर सारा देखता हूँ। और खुश होकर सोचता हूँ कि चकमक के अंक केवल उनके बनाए चित्रों के होने चाहिए!

बच्चे जो बनाते हैं वे गढ़ते नहीं हैं। यदि वे बनाते भी हैं तो अनगढ़ को बनाते हैं। क्या उनके वही चित्र सबसे अच्छे हो सकते हैं जो अधिक अनगढ़ हों?

बड़ों का हस्तक्षेप उनको गढ़ने के लिए होता है। क्या यह अच्छा होता कि उनके चित्र को सुधारने के लिए नहीं कहा जाता? मिटा-मिटाकर बनाना-खारिज करना ज़्यादा सिखाता है, बनाना कम। बिना मिटाए जो पहले बनता है वह एक अलग है। जो सुधारा गया, वह दूसरा या तीसरा अलग है। क्या पहला अपने मूल के अधिक समीप होगा?

फिर यह भी लगता है कि मिटा-मिटाकर जो बनाया गया, क्या वह सोच के अन्तिम तक पहुँचने का तरीका है। कविता, कहानी लिखने में तो काट-पीटकर लिखना होता है!

कम से कम लकीरों का चित्र भी पूरा चित्र हो सकता है। एक लकीर, एक बिन्दु का भी पूरा चित्र। जैसे कम से कम शब्दों की कविता। एक शब्द की कविता हो सकती है, पर शायद अभी कविता में उसके अर्थ का समय नहीं हुआ हो। पर एक लकीर का चित्र तो है। लगता है कि है। न भी देखा हो तो भी। और इसका समय बहुत पहले से है। चित्र एक आदि अभिव्यक्ति है, और भाषा की अभिव्यक्ति बहुत बाद की। केवल रंग भी चित्र हो सकते हैं। और रंगीन शब्द भी शायद चित्र न हों, क्योंकि उसका एक सीमित शाब्दिक अर्थ यदि पहले है। परन्तु चित्र अनेक अर्थों का हो सकता है। क्योंकि वह शब्द नहीं है।

कविता के भी असीमित अर्थ हो सकते हैं। अनेक चित्रों से भरे हुए कविता के अर्थ, परन्तु कविता पढ़ने या सुनने पर। कविता को केवल देखकर नहीं, जैसे चित्र को देखते हैं।

दृश्य का संसार बहुत बड़ा है, उसी तरह चित्र का भी। दृश्य तो चित्र और चल-चित्र हैं। परन्तु शब्द का संसार बड़ा नहीं, शब्द की ताकत बहुत बड़ी है।

चित्र में अनगढ़ का बनना जितने भी देर बाद और जब भी होता है वह करीब-करीब अनायास होता है। अनगढ़े को बनाना बड़ी कला है! बच्चे कितने भी नासमझ हों बड़े कलाकार हैं। परन्तु कला को समझना-समझाना तो बुद्धिमानी का काम है। और सोच-समझकर अनगढ़ करना बहुत कठिन।

*हिन्दी के विलक्षण कवि, कथाकार, उपन्यासकार।*

# इतना बड़ा आश्चर्य

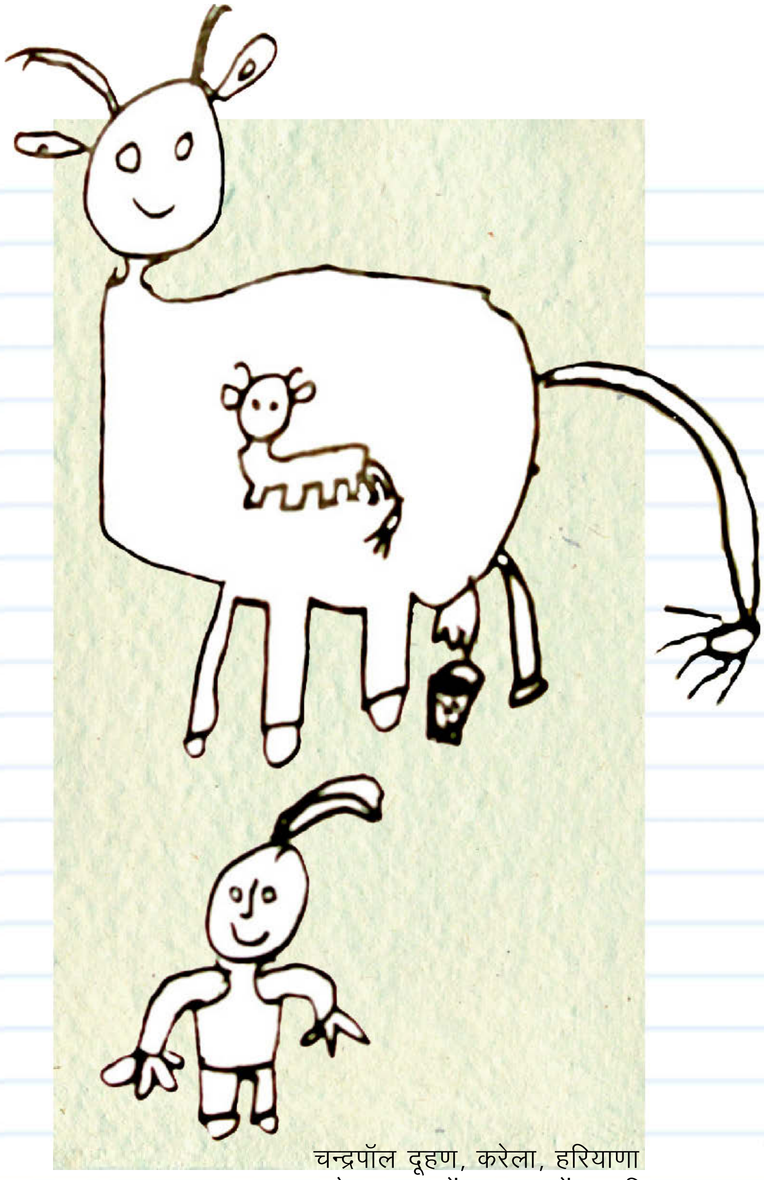

चन्द्रपॉल दूहण, करेला, हरियाणा
अप्रैल 1991 में चकमक में प्रकाशित

**इस** चित्र को देखो – इसमें एक बकरी अम्मा है, उसके पेट में एक मेमना है, बकरी के थन के नीचे रखी दूध की बालटी है। और एक छोटा-सा बच्चा, जो शायद इस चित्र का चित्रकार है। शायद नहीं, बिलकुल है। अपने साथियों में किसी से भी पूछ लो, कोई भी बता देगा, चित्र में जो बच्चा है, उसी ने यह चित्र बनाया होगा!

क्या इस तरह हम चित्र में चित्रकार को, कविता में कवि को, कथा में नायक को पहचान सकते हैं? हमेशा नहीं। पर यदि कोई रचना ऐसी अपूर्व निश्छलता में रची गई है, तो उसे रचनेवाला ज़रूर पहचाना जाएगा! जैसे-जैसे कोई रचनाकार बड़ा होता जाएगा, अपने को छिपाने लगेगा। यह झूठ-सच का नहीं, उसके "बड़े" होने का मामला है, दुनियादारी के अर्थ में।

एक रचनाकार अपनी रचना में कहाँ बैठकर, छिपकर, तुमसे क्या कहना चाह रहा है – इसे पकड़ने का अभ्यास तुम्हें अभी से करना होगा। उसकी अदृश्य गेंद को पहचानो और दौड़कर उसे लपको! हो सकता है, जो वह दुनिया में किसी से न कह पा रहा हो, वह तुमसे, अपने अदृश्य दर्शक-पाठक से कहने वहाँ आ गया हो, अपने चित्र, अपनी कथा में।

हर रचनाकार तुमसे बातें करना चाहता है। यदि ऐसा न होता तो वह चित्र बनाता ही क्यों? बना भी लेता, तो तुम्हें दिखाता क्यों?

इस चित्र में तीनों पात्र हमारी ओर देख रहे हैं – बकरी अम्मा, उसके पेट का मेमना, और बच्चा। चित्र के भीतर से। एकदम सीधा, जैसे कैमरे से उनकी तस्वीर उतारी जा रही हो। पेट के भीतर छिपा मेमना भी जैसे जानता है, एक बच्चा उसकी तस्वीर बना रहा है। वह भी अच्छे से बैठ गया है, बिलकुल अपनी अम्मा की तरह। ज़रा उसकी पूँछ तो देखो, बिलकुल माँ की तरह। और दुम पर बालों का गुच्छा – एकदम बकरी अम्मा के जैसा।

चित्रकार बच्चा अपनी मनुष्य अम्मा का बच्चा है, बकरी का नहीं। यह तुम जानते ही हो। लेकिन चित्र में बच्चा मेमने जैसा, और मेमना अपनी बकरी अम्मा जैसा बन गया है। तीनों एक ही परिवार के लग रहे हैं। ऐसा कैसे हो गया?

चित्र के समय दो चीज़ें अदृश्य थीं – चित्रकार बच्चे की मम्मी और मेमना। एक को उसने बना दिया, एक को नहीं। ऐसा उसने क्यों किया? एक कलाकार ने अपनी कला में क्या किया, उसे जानना उतना ही ज़रूरी है, जितना वह समझना, जो उसने नहीं किया। ऐसा नहीं कि वह उसे कर नहीं सकता था, लेकिन उसके मन ने कहा, इसकी ज़रूरत नहीं। कला की बात उसके मन ने समझी, अब उसके मन की बात तुम्हें समझनी है। तुम – जो इस समय उसका यह चित्र देख रहे हो!

बच्चे ने एक अदृश्य का रहस्य जाना है। वह उसी को चित्रित कर रहा है – उसे मालूम है, मम्मी के पेट से ही बच्चा होता है! हर कला यही करती है – पहले किसी भेद का पता चलाती है, फिर तुम्हें बताने आती है!

अब ज़रा फिर से इस चित्र को देखो।

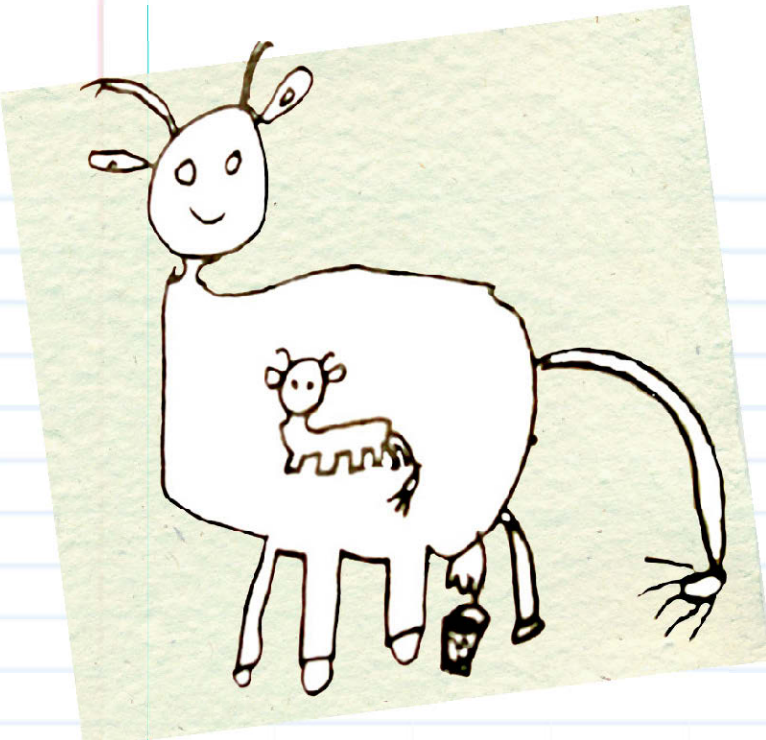

बच्चे ने जब बकरी अम्मा को बनाया, उसके पेट में मेमने को बनाया, उनके पास खड़े हुए स्वयं को बनाया, तो अपनी मम्मी को क्यों नहीं बनाया?

उसे मालूम है, उसकी मम्मी चित्र को देखेगी। मम्मी चित्र के भीतर चली जाएगी, तो उसका चित्र कैसे देखेगी? इसीलिए उसे नहीं बनाया।

लेकिन बच्चा मेमने जैसा कैसे हो गया? तीनों के सिर देखो तो! बकरी के सींग, मेमने के सिर पर खड़े बाल और बच्चे के टकले सिर पर चोटी – तीनों एक साथ हवा में हिल रहे हैं। सारी प्रकृति में माँओं के बच्चे मेमने जैसे हैं, क्या चित्रकार बच्चे को अपनी मम्मी को यह बताना था?

क्या इस चित्र को देखकर तुम इसके चित्रकार बालक की कल्पना कर सकते हो? वह किस आयु, किस कल्पना की दुनिया में रहनेवाला होगा?

वह अभी बहुत छोटा है। शायद पाँच-छह बरस का। वह अब भी अपनी मम्मी का दूध कभी-कभी पीता है, बुद्धू हमसे यह छिपा नहीं पाया! बकरी का मेमना तो अभी उसके पेट में है, उसका दूध अभी से बालटी में थोड़े आ जाएगा! बच्चा जब अपनी मम्मी का दूध पीने जाता है, उसके मन को बहुत अच्छा

लगता है। मम्मी का दूध उसके लिए भूख की नहीं, सुख की बात है – उसकी मम्मी इसे देखकर मुस्कराएगी, बच्चे को इसका भी कुछ-कुछ पता है।

उसने अपनी मम्मी और हम सब को इस चित्र के बाहर खड़ा किया है। हम उसे देखें, इसके लिए वह अपने चित्र के भीतर चला गया है – एक छोटा-सा चित्रकार बालक एक सुन्दर से रहस्य के साथ – चित्र की एक बकरी अम्मा और उसके पेट के मेमने के पीछे जाकर छिप गया है!

यह बच्चा कोई अलग-सी बात कहना चाहता था। वह सब बच्चों से अलग है। वह चाहे तो एक बड़ा कलाकार बन सकता है। ऐसा नहीं कि उसके पास रंग नहीं रहे होंगे। कि उसे मालूम नहीं होगा कि सूरज लाल, पेड़ हरे और आसमान नीले रंग से बनाया जा सकता है।

लेकिन वह कुछ और देख रहा था। इतना छोटा-सा बच्चा संसार के रहस्य में विचर रहा था। वह कहाँ से आया, इस बात से चकित था। बच्चे के संसार में रंगों की बजाय जन्म का आश्चर्य था। ऐसा तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि करते हैं! वह अपनी मम्मी से, हम सब से इस के बारे में कुछ कहना चाहता था। कभी दिखकर, कभी मेमने की तरह अपनी मम्मी के पेट में छिपकर।

क्या हम उसकी बात समझ पाए?

हर कला हमसे कुछ कहती है। अकसर बहुत धीमे स्वर में। जब तक हम उसके पास बार-बार न जाएँ, पूरी तरह कान लगाकर न सुनें, वह सारी बात नहीं कहती। यह चित्र तुमसे क्या कहना चाहता था, क्या तुम समझ गए?

- गगन गिल

*हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवि, कथाकार*

**चन्द्रपॉल** का यह चित्र बच्चों की कला का एक बेजोड़ नमूना है। यह काबिले तारीफ इसलिए भी है कि अब ये लगभग विलुप्त होते जा रहे हैं। ऐसे अनछुए चित्र अब बहुत छोटे बच्चों की स्कैचिंग में भी कहाँ दिखते हैं? एक भारतीय बच्चे से इस तरह के स्वाभाविक चित्रण की उम्मीद कम ही रहती है। ज़्यादातर चित्र बड़ों के दखल और उनकी उम्मीदों से भरे होते हैं। कला की कक्षा में या प्रतियोगिताओं के लिए रचे गए चित्रों में स्कूलों की तय स्थापित शैली देखी जा सकती है – विषय, कम्पोज़ीशन, रंग – सभी में।

चन्द्रपॉल ने वो बनाया जिसके बारे में उसे सब पता है और जो उसके लिए बहुत ही मूल्यवान है। इतनी छोटी उम्र में मन के सोचे को शब्दों की बजाय चित्र से कहना ज़्यादा आसान और प्रभावी होता है। ऐसे में चन्द्रपॉल अपनी दूध

# इतना बड़ा आश्चर्य

**हम** चित्रों की ओर क्यों खिंचे चले जाते हैं? क्यों ऐसा होता है कि कुछ चित्र आपसे सीधा बात करने लगते हैं और आप परवश से उनकी दुनिया में चले जाते हैं?

कला से मेरा रिश्ता नितान्त व्यक्तिगत है। इसमें न कलाकार आता है, न माध्यम और न इस्तेमाल की गई सामग्री। जो चीज़ मुझे बाँधती है वो है वह भाषा जो कलाकृति बोल रही होती है, वो आवेग जो वो साझा कर रही होती है, वो रहस्य जो वो खोल रही होती है और वो कहानी जो वो कह रही होती है। यूँ कि जैसे वो जड़ चित्र अचानक ज़िन्दा हो गया हो, और आपको रंगों, कल्पनाओं और सम्मोहित करनेवाले किस्से-कहानियों की अपनी दुनिया में खींचे जा रहा हो।

मुझे भेजे चित्रों में से मैंने इसे चुना। इसलिए नहीं कि यह मुझे सबसे बढ़िया लगा बल्कि इसलिए कि इसने फुसफुसाकर मुझसे कुछ कहा। यह खुश, सन्तुष्ट लड़का मुझे टोहका मार रहा था कि मैं उसकी खूबसूरत-सी गाभिन गाय को देखूँ। और वो मुझे इतनी सौम्य, भली और प्रेमिल लग रही थी कि मैं एकदम से एक माँ की गर्माहट महसूस करने लगी। उसकी खुशी जैसे मुझे छू रही थी। मैं जैसे उसकी दिव्य रोशनी में नहा गई। इस चित्र के खरेपन ने उसकी पवित्रता को और बढ़ा दिया था। चित्र की सफेद जगहें अधूरी नहीं लगतीं, बल्कि उनसे जज़्बातों की साफगोई चू रही लगती है।

इस चित्र की जो दूसरी बात मुझे छू गई वो है माँ के गर्भ में खुश-खुश छिपा बैठा बच्चा। वो न केवल अपने बच्चे को पाल-पोस रही है बल्कि उस खुश बच्चे और उसके परिवार का भी ख्याल कर रही है। इसका इशारा उसके थनों के नीचे रखी बालटी से मिलता है। वो बस दे ही रही है – एक खुश, सन्तुष्ट जीवन को साकार रूप देती।

इस चोटीवाले लड़के और गाय के बीच में मज़ेदार रिश्ता है। शायद उसने उस गाय से कुछ ऐसा साझा किया है जिसने दोनों को खुश कर दिया है। हमें कभी नहीं पता चलेगा कि वो बात क्या थी पर उनकी मुस्कराहट उनके इस खुश, सन्तुष्ट समय की याद दिलाती रहेगी।

– रितु खोड़ा

*कला शिक्षा के लिए समर्पित आर्ट फर्स्ट की संस्थापक*

**तीनों के सिर देखो तो! बकरी के सींग, मेमने के सिर पर खड़े बाल और बच्चे के टकले सिर पर चोटी – तीनों एक साथ हवा में हिल रहे हैं।**

देनेवाली गाय के बारे में सब कुछ कितनी बारीकी से बताता है! अगरचे उसकी यह खुश, मुस्कराती गाय साइज़ में उससे कहीं बड़ी हो गई है, तो उसे डर कैसा? उसके घुमावदार सींग तक कितने निर्दोष, मासूम हैं। उसे गाय की पूँछ के बारे में भी पता है और उसके सिरे पे लटकते बालों के बारे में भी। हो सकता है किसी रोज़ कुछ ज़्यादा पास आने पर उसे इसी पूँछ से एक हलकी-सी चपत पड़ी हो। नन्हे चन्द्रपॉल को गाय के खुरों के बारे में भी पता है। और गाय को दोहते कैसे हैं इसकी हर बात उसे पता है, बहुत अच्छे से पता है। और चमत्कारों का चमत्कार तो यह कि उसे पता है कि उसकी गाय के पेट में एक बच्चा पल रहा है।

वो कितनी प्रेम से भरी दुनिया है जिसमें वो नन्हा बछड़ा आनेवाला है – चन्द्रपॉल और उसके परिवार के साथ वो पलेगा-बढ़ेगा...

– फ्रांसिस कुमार

*हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि, कथाकार, उपन्यासकार।*

# चित्रकार की खुशी उसके चित्र में बसी है

**तीन** मुस्कराते चेहरे हैं – बछड़ा तो अपनी माँ के पेट में है। उसकी पूँछ कितनी तो समान दिखती है अपनी माँ की पूँछ से! तीनों के चेहरे गोल हैं, आँखें गोल हैं, हँसी समान है, बस बछड़ा जो कि पेट के अन्दर है उसकी हँसी नहीं दिख रही। निश्चय ही कह सकता हूँ कि कलाकार के मन में इसकी कोई कहानी तो होगी ही, या जब उसने इस दृश्य की कल्पना की होगी तो जिसमें गाय जो कि पेट में बछड़ा लिए है दूध दे रही है और मुस्करा रही है। तो यह मुस्कराता बच्चा कलाकार इस दृश्य की उपस्थिति से ही चकित होकर बहुत खुश हुआ होगा अपनी इस खोज पर कि बछड़ा माँ के पेट में रहता है।

बच्चे अकसर ऐसे करते हैं कि हमें लगता है चित्र अधूरा है। जैसे कि बछड़े की हँसी। बच्चे क्या एम एफ हुसैन के यहाँ भी हम पाएँगे कि जैसे मन की बात पूरी हो गई तो अब ज़्यादा कहने की ज़रूरत नहीं सो आप समझ जाएँ।

एक खास बात जो बच्चों के चित्रों में दिखती है और जो लोक कलाकारों में भी दिखती है, वह यह कि जो सबसे मुख्य बात है कलाकार के पास कहने के लिए वह सबसे बड़ी बनाएँगे। इसमें दूर-पास का कोई चक्कर नहीं है। अब इस चित्र में ही देखो – बालटी गाय के पाँव से भी कितनी छोटी है और पूँछ देखो! इसे बनाने में तो कलाकार को बड़ा मज़ा आया होगा। और यह पूँछ पूरे चित्र में एक लय भी बना रही है। गाय की बड़ी पूँछ और बछड़े की छोटी पूँछ। गोलाई लिए लय में लहराकर ठहरी हुई, बच्चे के बालों जितनी ही लय में। लय कानों में, लय सींगों में, लय बनियान से निकलती बाँहों में। छोटे बच्चों का हाथ गोलाई में घूमता है उसी से यह लय बनती है।

और इसी लय में एक चित्र बनकर निकल आता है, जो बच्चे के मन में उसके रोज़मर्रा के होनेवाले अनुभवों में जो खास है उसी की कथा है। इसी से बच्चे के मन में इस दुनिया का नया आलोक खुलता है और बनता है। चकमक

– शिवकुमार गाँधी

*चित्रकार, फिल्मकार*

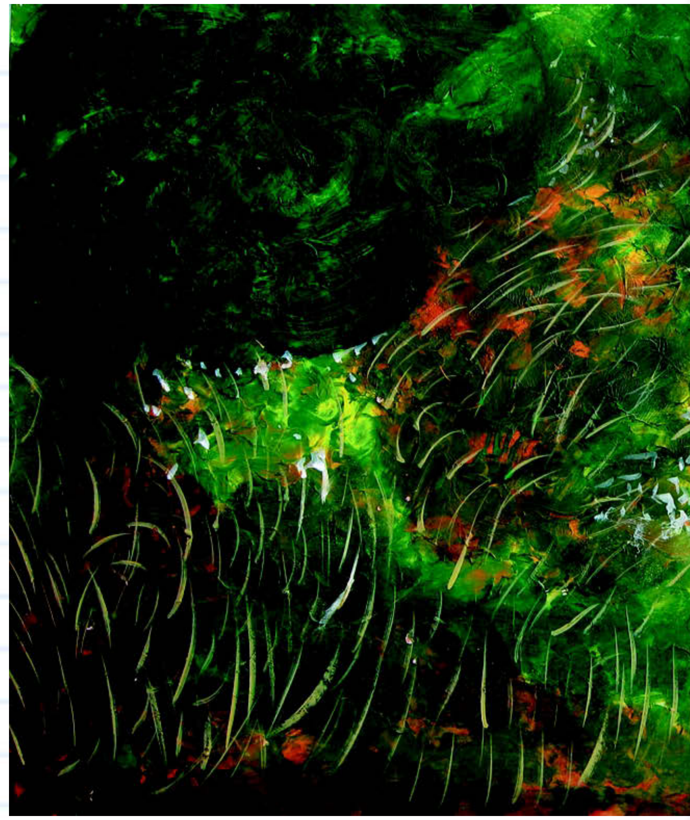

अभिदीप, आठवीं, भोपाल
फरवरी 2014 में प्रकाशित

**हर** चित्र की अपनी दुनिया होती है। कुछ चित्रकार अपनी इच्छा से, अपनी कल्पनाशक्ति से यह दुनिया रचते हैं। पर कुछ खूब सोच-समझकर चित्र रचते हैं। उनके दिमाग में चित्र रचना के तमाम नियम घूमते रहते हैं। रंग को लेकर, संरचना को लेकर, आकार को लेकर वे अमूमन सजग रहते हैं। पर बच्चे जब चित्र बनाते हैं तो अकसर ऐसा नहीं करते। वे पूरी आज़ादी के साथ रचते हैं और रचने की इस प्रक्रिया में जाने-अनजाने कुछ ऐसा रच डालते हैं, जो हमें अचम्भित कर जाता है।

जैसे अभिदीप का यह चित्र। मैंने इसे इसलिए नहीं चुना कि यह सबसे अच्छा है बल्कि इसलिए कि इसमें कुछ बहुत खास है। इस चित्र का मुख्य रंग हरा ज़रूर है पर इस हरे रंग की कई छटाएँ हैं – गहरे हरे से लेकर एकदम हलके हरे के बीच के न जाने कितने हरे हैं। कुछ हरे तो ऐसे भी हैं जो अपने आसपास की घास, पत्तियों, बेलों या दीवारों पर जमी काई में भी नहीं दिखते।

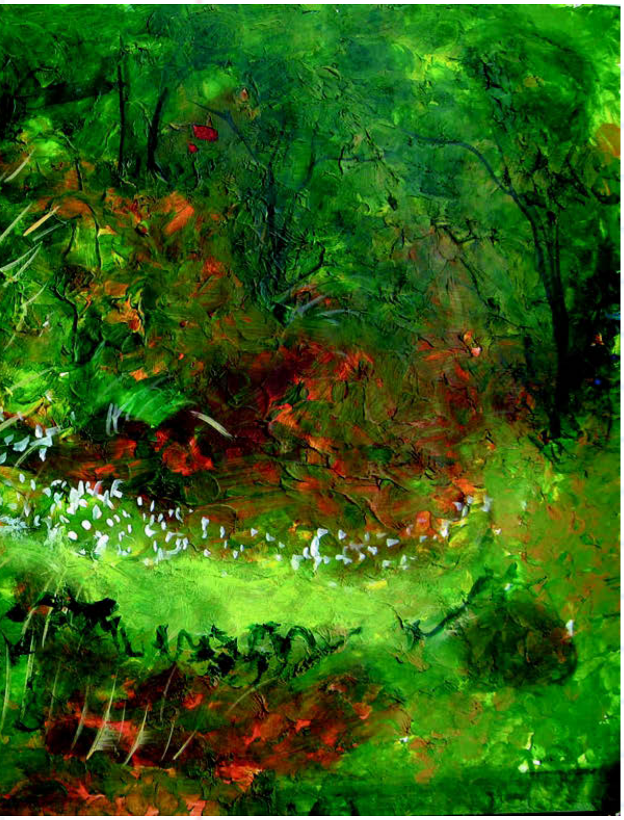

**यह** चित्र बारिशों के बाद जैसी तरो-ताज़गी जगा देता है। एकदम उन्मुक्त भाव से बनाया यह चित्र प्रकृति के फिर से पनपने-जीवन पाने की ताकत की ओर बस एक इशारा भर है। यहाँ न तो पेड़, न घास और न फूल वैसे हैं जैसे वो प्रकृति में दिखाई देते हैं – फिर भी यह पेंटिंग एक आनन्द की स्थिति को दर्शाती है। क्या यह इतने सारे हरों की स्मृतियों को झनझनाने की ज़बर्दस्त काबिलीयत का कमाल है कि यह चित्र इतना लुभावना बन पड़ा है? या यह नारंगी और सफेद की हलकी-सी छुअन का जादू है कि लग रहा है जैसे कोई बीच जंगल में पेड़ों से रीती जगह में गा रहा है? किसी ज़िन्दा चीज़ का विश्लेषण तो किया जा सकता है – पर महत्वपूर्ण यह है कि इस प्रक्रिया में हम उसे खत्म न कर दें जो ज़िन्दा है! और हालाँकि हम इस बात का विश्लेषण कर सकते हैं और जान सकते हैं कि वो क्या है जो किसी चीज़ को खूबसूरत बनाता है, लेकिन यह बिलकुल ज़रूरी नहीं कि किसी चीज़ का विश्लेषण इसलिए किया जाए ताकि उसकी सुन्दरता को सराहा जा सके और उसका आनन्द लिया जा सके।

– राजा मोहन्ती

*आई.आई.टी मुम्बई में विज़ुअल कम्युनिकेशन पढ़ाते हैं।*

# हरे अंधेरे में उजले हरे का कालीन

हरे के साथ चित्रकार ने नारंगी और चॉकलेटी-भूरे रंग के बीच भी सफर किया है। इसे उसने हरे रंग की विभिन्न छटाओं के ऊपर चढ़ाया है। ऊपर चढ़ाया है, इसलिए कहा क्योंकि चित्र में हरे रंगों के पूरी तरह से सूखने का इन्तज़ार किए बगैर ही चित्रकार ने नारंगी रंग से अपना काम शुरू कर दिया था। इसके चलते कहीं हरे रंगों में नारंगी रंग घुल गया, तो कहीं नारंगी में हरा! इससे कुहासे जैसा एक माहौल बन पड़ा है, जहाँ कुछ भी बहुत साफ नहीं। पेड़ों की हरियाली है, पर पत्ते नहीं दिखते। धूप ने तो कमाल कर दिया है। हरे अँधेरे में एक उजले हरे का कालीन बिछा दिया है!

इन सब के अलावा इस चित्र में दो और खासियतें हैं। एक तो चित्रकार ने चित्र में आसमान को दिखाना ज़रूरी नहीं समझा। यह एक बहुत प्यारा पर साहसिक काम है जिसने इस चित्र को इतना आकर्षक बना दिया। दूसरा, चित्र के बन जाने के बाद चित्रकार ने पूरा इन्तज़ार किया। और जब चित्र पूरी तरह से सूख गया तो उसने अपनी पतली कूची ली (अब तक वह मोटी कूची से चित्र बना रहा था) और उसे सफेद रंग में डुबोकर तेज़ हाथों से नीचे से ऊपर की ओर जाती हुई छोटी-छोटी सफेद रेखाएँ खींच दीं। कहीं-कहीं छोटे-बड़े बिन्दुओं को भी बना दिया। इन्हीं सफेद लकीरों और बिन्दुओं ने चित्र में जान डाल दी है।

और यूँ बना एक चित्र।

सोचो तो, कहाँ था यह दृश्य इस चित्र के बनने से पहले? कहीं नहीं था! इसे पहले चित्रकार ने रचा है, फिर अपने-अपने ढंग से देखते हुए हम सब ने रचा है। यही है चित्र रचना...

– अशोक भौमिक

*चित्रकार, कथाकार, कला पर लेखन*

शिवम नरवरिया, आठवीं, भोपाल
फरवरी 2014 में चकमक में प्रकाशित

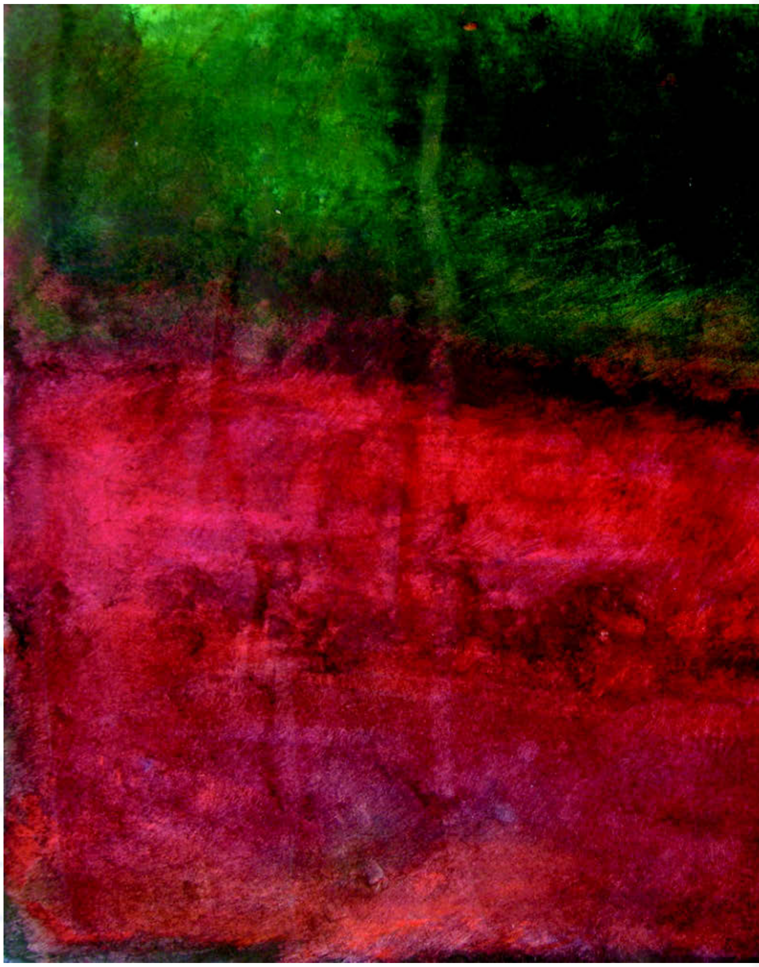

# रंगों का लय-वितान

**सरसरी** तौर पर और हर जगह कुछ पहचाना हुआ खोजने की आदत के कारण लग सकता है कि यह एक लैण्डस्केप है। हम अकसर यह मानने को तैयार नहीं होते कि बच्चे बिना पहले से मौजूद किसी चीज़ की नकल करने की बजाय कुछ बिलकुल नया बना सकते हैं। जो बनाने से ही पहली बार अस्तित्व में आता है। यह चित्र ऐसा ही है: वह किसी के बारे में नहीं है। वह खुद है – उसे किसी और के बारे में होना ज़रूरी नहीं लगता।

किसी भी कलाकृति को कई ढंग से देखा-पढ़ा जा सकता है। मुझे यह चित्र रंगों का लय-वितान लगता है। इसमें रंग मिल-जुल-घुलकर एक पट बना रहे हैं जिसका एकमात्र औचित्य उनका एक-दूसरे से समरस होना है। मानो ये रंग मिलकर अपने को गा रहे हैं। ऐसे कि अलग-अलग हरेक की आवाज़ भी सुनाई पड़े और उनका समवेत स्वर भी। यह प्रश्न भी आदतन मन में उठता है कि वे क्या कह रहे हैं या गा रहे हैं। वे कुछ नहीं अपने को कह-गा रहे हैं। जैसे कि यह जता रहे हों कि जो है वह अपने आप में और दूसरों के साथ मिलकर सुन्दरता रचता है: वे एक साथ अकेले और साथ हैं। और इन दोनों में कोई दूरी या अन्तर्विरोध नहीं है। वे सुन्दरता का एक चौकोर हिस्सा है – सुन्दरता उनके आर-पार फैली है। हम उनके माध्यम से, उसके इस सम्पुंजन से उस सुन्दरता को सरस देख पा रहे हैं। यह सब कर पाने के लिए जो कौशल चाहिए वह है और चकित करता है।

– अशोक वाजपेयी

*जाने-माने कवि, आलोचक, कला समीक्षक*

**चित्र का माहौल ही नहीं आकृतियाँ भी उत्तेजित लगती हैं। जैसे फूलों से खेल रही हों। जैसे रंग बह निकलेगा। जैसे आकृतियाँ नाचते हुए गा उठेंगी।**

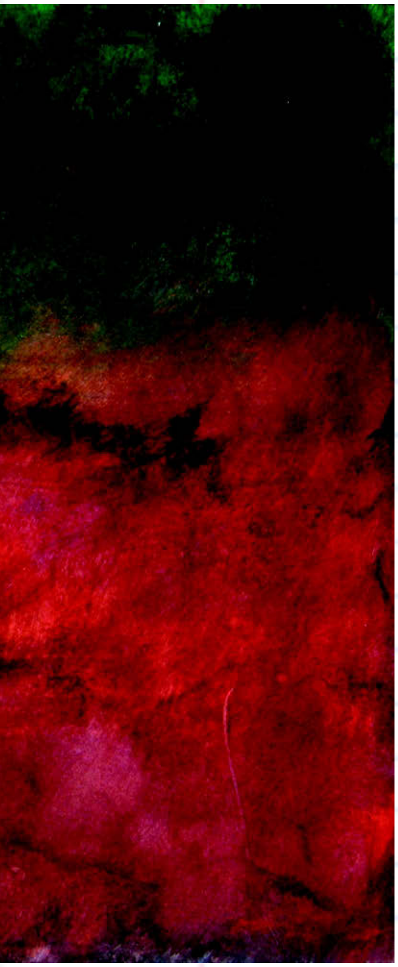

**यह** चित्र मुझे अमरीकी अमूर्त्त एक्सप्रेशनिस्ट चित्रकार मार्क रोथक की याद दिलाता है। वे विशाल कैनवास के चौकोरों में रंग और प्रकाश को वे रंगा करते थे। वे खुद बच्चों की और प्राचीन (आदिम) कला से काफी प्रभावित थे। कला का ठीक वैसा ही सादा, सहज और आदिम चित्रण इस चित्र में भी दिखता है। ज़रूरी नहीं है कि कला हमेशा कोई खास पहचान ही बाँचे और बारीकी से बाँचे। अपनी कलात्मकता सिद्ध करने के लिए उसका जटिल होना भी ज़रूरी नहीं। कला बहुत साधारण भी हो सकती है जैसे रंगों के सिर्फ कुछ छिटके जो हमारे विचारों और भावों को एकदम स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सकें, भी कला है। और यह चित्र इसका अच्छा उदहारण है। कल्पनाओं की पींगे उड़ाना कि इस चित्र में कुछ खास छिपा है, यहाँ व्यर्थ है। इस तरह की कला का आनन्द लेना हो तो अपनी आँखों को पूरे चित्र पर यूँ ही फिरने दो – उन्मुक्त, आज़ाद। इस चित्र में लाल से हरे की ओर जाते हुए बीच में कितने ही रंगों की छटाएँ एक-दूसरे में घुलती- मिलती, बिना किसी भेद के एक-जान होती जान पड़ती हैं।

इन रंगों के साथ अनन्त विस्तार की सैर पर निकला जा सकता है।

– रेखा मीणा

*वैज्ञानिक. कला में गहरी रुचि*

**पहली** नज़र में ही कितना आकर्षित कर गया यह चित्र! रंग से भरा-पूरा। कागज़ के कोने-कोने को रंग दिया, कोई कोना छूटने न पाए। इस रंगने में भी विविधता है। बीचों-बीच लाल की बहार है तो कोने नीले, पीले, हरे और उन पर भी कहीं लाल की सजावट। लाल के भी दो शेड्स (रंगतें) हैं। एक चटक, दूजा धूमिल लाल। दोनों ही लाल आसपास लगा दिए हैं जैसे विन्सेंट के चित्र सूरजमुखी में पीले के शेड्स साथ-साथ थे। लगता है कूची मन के संग चलती रही जब जो मन किया वो रंग वहाँ रंगा – किसी योजना का कोई बन्धन नहीं।

कम्पोज़ीशन भी सामान्य नहीं। चित्र साफ तौर पर दो खाँचों में बँटा है जैसे दो आले हों या टेलीविज़न में दो खाँचों में चित्र चल रहा हो।

रंग का बहाव ऐसा भाव दे रहा है कि चित्र चलचित्र जान पड़ रहा है। स्थिर संरचना नहीं है। रंग तो गतिमान हैं ही इनके भीतर आकृतियाँ भी लगती हैं अभी कूदकर आले से बाहर निकल आएँगी। एब्सट्रैक्ट-सा सीन है। सपने के परदे पर चलता नाटक जैसे। खूब अलंकृत, किसी उत्सव या पूजा का कोई दृश्य। नीचे कुछ लिखा है जैसे मन्दिर या दरवाज़े पर लिखा होता है।

चित्र का माहौल ही नहीं आकृतियाँ भी उत्तेजित लगती हैं। जैसे फूलों से खेल रही हों। जैसे रंग बह निकलेगा। जैसे आकृतियाँ नाचते हुए गा उठेंगी। बाएँ हाथ की आकृति लग रहा है चीख के कुछ गा रही है। इस चित्र का उत्सव लोक का उत्सव है – वही मस्ती, उल्लास, मन-मर्ज़ी, कुछ भी नियम से बँधा नहीं। ऊपर तितली पंख फैलाकर नाच रही है। यह फड़ की भी याद दिला जाता है। कोई लोक गाथा है, राजा-रानी की जादूवाली कहानी। वे दो महलों में रहते हैं। एक में रानी, जिसके ऊपर तितली है। दूसरे में राजा जिसमें सोने के खम्बे हैं। तब लाल रंग वीरता का लाल लगता है। धूमिल लाल, वीर भूमि का लाल। रानी के खाँचे के ऊपर नीला आकाश और तितली। रानी इससे बाहर निकलेगी तो आकाश में उड़ जाएगी। राजा के खाँचे के बाहर ज़मीन, पेड़ का हरा। सो राजा धरती की यात्रा पर निकल जाएगा।

– निधि सक्सेना

*चित्रकार, फिल्मकार*

**इसकी** स्पष्ट रेखाओं और बढ़िया कम्पोज़ीशन (जमावट) ने मुझे इसकी ओर खींचा। चित्रकार ने बेहद बारीकी से रोचक विवरणों को उभारा है। जैसे पास खड़े उस कुत्ते का कुछ खाते हुए लोगों को भूखी आँखों से एकटक ताकना, ट्रक के पहिए – एक ज़मीन पर तो दूसरा पेड़ पर – बारीक अवलोकन का ही नतीजा है।

– मंजुला पद्मनाभन

*कथाकार, नाटककार, चित्रकार*

# यह चित्र कोई किस्सा कहता जान पड़ता है

**चित्र** बनाने की कई शैलियाँ हैं। अनेक विधियाँ भी। सबका अलग-अलग असर होता है। किसी में विषय मुख्य हो सकता है, किसी में कोई विषय ही नहीं होता। किसी में रेखाएँ महत्वपूर्ण हो सकती हैं, किसी में रंग। किसी चित्र में जानी-पहचानी आकृतियाँ हो सकती हैं। किसी में काल्पनिक आकार भी हो सकते हैं।

मुझे ऐसे चित्र अच्छे लगते हैं जिनमें कोई किस्सा-कहानी छिपी हो। आप कोशिश करें और कहानी खुलती जाए। हर किसी की अपनी, अलग कहानी। बड़ी उम्र में चित्रकारी करते हुए हम कई सावधानियाँ बरतने लगते हैं। मगर, बच्चे ऐसा नहीं करते। वे अपने मन की मानते हैं।

चित्रों में वे उन घटनाओं, परिस्थितियों, लोगों और चीज़ों को बनाने की कोशिश करते हैं, जिन्हें देख चुके होते हैं। कुछ ऐसा भी जैसा हो भले नहीं, मगर वे देखना चाहते हैं। अब यही चित्र लो। एक ढाबा है। चित्रकार ने इसे खूब ध्यान से देख रखा है। जैसा याद रह गया बनाने की कोशिश की है। अकसर हम जैसे ढाबे देखते हैं, यह वैसा ही है न? कच्चा। तिरपाल की छत वाला। जहाँ एक हलवाई है। कढ़ाई में कुछ मिलाता हुआ। शायद समोसों का मसाला? पास ही बन चुके समोसों का ढेर है। उसके कँधे पर रखा गमछा तो देखिए! जो हाथ पौंछने से लेकर गरम कढ़ाई उठाने के काम आनेवाला है।

एक लड़का है। ग्राहकों को चाय-पानी देने के लिए। जूठे कप-प्लेट पड़े हैं। उन्हें धोने के लिए रखी एक बालटी है। एक सरदारजी हैं। शायद ट्रक चलाकर आए होंगे। यहाँ चाय पी रहे हैं। चाय पीने के लिए मूँछ-दाढ़ी के बीच खुला उनका मुँह तो देखिए। नोंकदार जूतियाँ भी। उनके पीछे बैठा आदमी, उनका सहायक होगा, शायद। वह समोसे खाने का मन बना चुका है। सामने एक कुत्ता खड़ा है। पूँछ हिलाता, लार टपकाता। जब भी किसी खुली जगह पर हम कुछ खाते हैं, कुत्ते आ ही जाते हैं आसपास। खाने के लिए कुछ पा जाने की उम्मीद में।

ढाबे, अकसर किसी बड़े से पेड़ के नीचे ही होते हैं। ठण्डी छाँव के लिए। राहगीरों की सुविधा के लिए बिलकुल पास ही पंचर सुधारने की दुकान भी होती है। आसपास गाड़ियों के टायर बिखरे रहते हैं। कई दफा थके मुसाफिर उन्हीं पर बैठ जाते हैं। कोई टायर पास के पेड़ पर ही लटका दिया जाता है।

रिद्धि जैन ने यह चित्र बनाया है – हलके रंग भरते हुए। भूरा रंग कुछ ज़्यादा है न! हर आदमी को उसके खास अन्दाज़ में बनाने की कोशिश की गई है। टायर पर उकडू बैठ चाय पीते लड़के का ठाठ तो देखिए! इस चित्र में इतने सारे विवरण हैं फिर भी बच्चों वाला मासूम-अनगढ़पन बरकरार है।

क्या इतना बड़ा गैस-सिलेंडर तुमने कभी देखा है?

– मनोज कुलकर्णी

*चित्रकार, लेखक*

रिद्धि जैन, बारहवीं, भोपाल
मई 2014 में प्रकाशित

बारीकी से देखे दृश्य का सार
कागज़ पर सिमट आया है

**यह** चित्र अनूठा इसलिए है क्योंकि इसमें हमें वहाँ ले जाने का सामर्थ्य है जहाँ इसे रचा गया था। जो हो रहा है उसे बारीकी से देखने और उसे इस तरह चित्र में उतारने का कौशल कि पूरे दृश्य का सार कागज़ पर सिमट आए, इसमें साफ देखा जा सकता है। हम लगभग पूरी तरह से उस कुत्ते की लाचारी महसूस कर सकते हैं जो देर से ललचाई आँखों से ताकता रोटी के एक टुकड़े को अपनी ओर फेंके जाने के इन्तज़ार में खड़ा है। हरी पगड़ी पहने हुए वो दाढ़ीवाला कौन है? क्या वो उस ट्रक का ड्राइवर है जिस पर लिखा है, "ऑल इंडिया परमिट"? घण्टों तक ट्रक चलाने के बाद वो खुश है कि एक कप चाय के साथ कुछ देर थमने का मौका मिला। गैस का सिलेंडर कुछ ज़्यादा बड़ा है – पर अनुपात की इस गड़बड़ से कोई फर्क नहीं पड़ता! हो सकता है कि सिलेंडर नया हो। उसमें पुता लाल रंग भी अभी ताज़ा है। क्या इसीलिए उसे ऐसी जगह पर रखा है जिससे सबसे पहले उस पर नज़र पड़े। दुकान मालिक के नाम का अन्दाज़ लगाना बिलकुल मुश्किल नहीं है ना? और उसका कुशल सहायक – भोलू – पास ही खड़ा है। भोलू पीले कपों को बालटी में रखता जा रहा है – हालाँकि वो बालटी के अन्दर हैं फिर भी उन्हें बाहर से देखा जा सकता है। क्या यह एक कलाकार की भूमिका नहीं कि वो जो दिख नहीं रहा है, जो नज़र से परे हैं, उसे नज़र के सामने ले आए?

– राजा मोहन्ती

## मकबूल फिदा हुसैन की ज़मीन
## सत्यजीत राय की पाथेर-पाँचाली
## विन्सेंट वान गॉग के कई असाधारण चित्र
## और यह एक ढाबा

**इस** चित्र में आए जीवन और जादू को हम अपने देश के किसी छोटे शहर की सड़क के किनारे, किसी कस्बाती या ग्रामीण बस स्टेशन के आसपास, किसी महानगर की सरहद की शुरुआत में आज भी देख सकते हैं। महसूस कर सकते हैं। एक अच्छा चित्र हमारे रोज़मर्रा के मामूली जीवन के पदार्थों का कुछ ऐसा उपयोग करता है कि हमें उसी जीवन में बसे असाधारण और अविस्मरणीय तत्व नज़र आने लगते हैं। यही कला का जीवन है। यही कला का जादू है।

इस चित्र में एक आदमी खाने की कोई चीज़ को पका रहा है। उसके पड़ोस में लड़का खड़ा है। तीन आदमी कुछ-कुछ खा-पी रहे हैं। एक कुत्ता खाने की मेज़ की तरफ ताक रहा है। धुआँ निकल रहा है और हम देखते हैं कि एक ही कैनवास पर मानवीय जीवन की विभिन्न प्रक्रियाएँ, हरकतें और झलकें नज़र आ रही हैं।

भारतीय कला की सदियों पुरानी परम्पराओं और इतिहास में मुगल शैली (खास तौर पर हमज़ानामा – अमीर हमज़ा की कहानियाँ), राजपूत कला, तन्जोर शैली और पट्टचित्रों में भी एक ही कैनवास पर जीवन की विभिन्न मुद्राओं को चित्रित किए जाने का सिलसिला रहता आया है।

इस तरह के चित्रों को याद करने के अपने प्रयत्नों में, मुझे मकबूल फिदा हुसैन के 1955 में बनाए आयताकार चित्र "ज़मीन" की याद आती है। यह चित्र दिल्ली के राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय में टँगा है।

यह संयोग ही है कि जिस बरस मकबूल फिदा हुसैन "ज़मीन" बना रहे थे, उसी साल हमारे एक बड़े फिल्म निर्देशक सत्यजीत राय ने *पाथेर-पाँचाली* बनाई थी। जिस तरह हुसैन के चित्र में भारतीय जीवन के यथार्थ, स्वप्न, जीवन, सच, और जादू को दिखाया गया है, उसी तरह *पाथेर-पाँचाली* में हम बचपन, बुढ़ापे, गरीबी, प्रकृति, पड़ोस, परिवेश और परिवर्तनों को देखते हैं। वे हमारी आज़ादी के बाद के बरस रहे थे। हमारा साहित्य, हमारा सिनेमा, हमारी कलाएँ, खुद को अपनी सम्पूर्णता में, अपने समूचेपन में परिभाषित करने की कोशिश कर रही थीं। प्रयोग कर रही थीं।

इस चित्र का साफ-सुथरा होना इसकी शुद्धता और सटीकता प्रभावित करती है। इसमें रंगों का इस्तेमाल सूझबूझ के साथ किया गया है। रंगों की विषमता (कॉन्ट्रास्ट), चटक और फीके रंगों का मिश्रण, चित्र के सौन्दर्य का विस्तार करता है। चित्र को देखने की हमारी लालसा, जिज्ञासा और उत्सुकता को बढ़ाता है। जिस तरह आदमी के इतिहास में रंगों की उपस्थितियों ने आदमी को हमेशा से ही सम्मोहित किया है। उसी तरह चित्रकला के अपने इतिहास में कई चित्रकारों ने चित्रों में रंगों के उपयोग पर गहरा चिन्तन किया है।

नीदरलैंड के चित्रकार विन्सेंट वान गॉग ने अपने 37 बरस के संघर्षशील जीवन में कई अविस्मरणीय, असाधारण चित्र बनाए। अपने चित्रों में वे रंगों के उपयोग पर बहुत चिन्तन किया करते थे। एक रंग के पड़ोस में कौन-सा रंग चित्र को अपनी सम्पूर्णता देने में सफल होगा। किन रंगों का इस्तेमाल कलाकार की अपनी मौलिकता पर कला के जादू को कम करेगा। ऐसी बहुत-सी बातों को उन्होंने अपने पत्रों में लिखा है। अपने एक पत्र में वान गॉग लिखते हैं-

"किन्तु मेरे कैनवास का रंग प्रकृति के रंग से मेल खाता है या नहीं, मैं इसकी परवाह नहीं करता। मेरे लगाए रंग को चित्र में सही लगना चाहिए और सुन्दर भी उतना ही जितना वह प्रकृति में लगता हो।"

– जयशंकर

*कथाकार, कलाओं में गहरी रुचि*

# कलाकृति

फहमीद, इन्दौर
मार्च 1991 में प्रकाशित

**यह** एक अति-सुन्दर चित्र है। असल में अद्भुत रूप से सुन्दर। मैंने बड़े-बड़े कलाकारों के बनाए हुए चित्र देखे हैं, पर उनमें कम ही ऐसे चित्र थे जो मुझे इतने सुन्दर लगे हों। और अपनी इस सुन्दरता के कारण यह चित्र मेरे मन को खुशी से भर देता है। इस तरह यह चित्र चित्रकला की एक मूलभूत शर्त को पूरा करता है, और वह यह है कि चित्र आपके मन को उठाए, उसे एक उचान पर ले जाए, जहाँ वह आमतौर पर नहीं होता।

हर वर्ष दुनिया में हज़ारों-लाखों चित्र बनाए जाते हैं। उन्हें कलाकृतियाँ कहा जाता है, उनका प्रदर्शन होता है। उन्हें खरीदा-बेचा जाता है। पर उनमें से कितने चित्र उस शर्त को पूरा करते हैं जिसका ज़िक्र मैंने ऊपर किया है? बहुत कम। असल में बहुत ही कम। जिसका अर्थ यह है कि बहुत कम ऐसे चित्र होते हैं जिन्हें सच्चे अर्थों में कलाकृति कहा जा सके।

इन अर्थों में सचमुच ही यह चित्र एक कलाकृति है।

आओ अब संक्षेप में देखें कि इस चित्र में नज़र क्या आता है।

घरों की दो कतारों के बीच एक गली है। गली के एक ओर पाँच घर दिखाई देते हैं, दूसरी ओर सिर्फ एक घर। और इस अकेले घर का भी कुछ हिस्सा ही नज़र आता है। परन्तु पूरे चित्र को देखते हुए हम कल्पना कर सकते हैं कि गली के इस तरफ इस घर से आगे और भी कुछ घर होंगे।

गली में दो ऊँचे पेड़ हैं। दो या तीन पेड़ सामने के घरों के पीछे भी हैं। उन्हें देखकर लग सकता है कि शायद उस तरफ भी कोई गली है। परन्तु उन पेड़ों के पीछे फैला आकाश कुछ इस तरह से बना है कि उसे देखकर सिर्फ एक ही चित्र मन में उभरता हैः कि उन पेड़ों के पीछे दूर तक फैली हुई खाली जगह है, बस। इस खाली जगह का आभास दाहिनी तरफ उस कोने से भी मिलता है जहाँ पर गली खत्म होती है। गली के इस दाहिने कोने को और उससे आगे देखते हुए हमें लगता है कि गली से निकलकर हम एक अनन्त देश-काल में चलते चले जाएँगे।

परन्तु इससे ज़रा-सा भिन्न एक दूसरा भाव भी गली के इस छोर को देखकर मन में आता हैः कि यह गली, ये घर और ये पेड़ चित्र के दाहिनी तरफ एक शून्य के किनारे खड़े हैं। यानी उनसे आगे और कुछ भी नहीं है।

और बाईं तरफ? ऐसा लगता है कि चित्र के बाएँ छोर पर गली खत्म नहीं होती; वह कहीं

*(शेष भाग पेज 83 पर)*

# आया एक अनोखा हाथी

**चित्र** में सबसे मज़ेदार बात है हाथी की सूँड का खुलना और उसका बिलकुल ज़मीन को छू लेना – जैसे कागज़ का खिलौना फूँक मारने से खुलता जाता है। रंग हाथी का नहीं है, पर उसे एक ही रंग में बनाया गया है। वैसे कोई चाहे तो हाथी को भी काला न बनाकर हरा-पीला बना सकता है – लगेगा तो वह हाथी ही। इस चित्र की एक बात और आकर्षित करती है। और वह यह कि हाथी के पैर केले के तने जैसे भी लगते हैं। दोनों में एक समानता तो देखी ही जाती रही है। केरल में हाथी भी होते हैं और ढेर सारे केले के पेड़ भी। सूँड में जो बुँदकियाँ हैं वे इसे और सुन्दर बनाती हैं। हाथी के हौदे की जो छतरी है, वह पेड़ जैसी भी लगती है, जो छाया देता है। ये सारी बातें सहज ढंग से ही चित्र में आई हैं। यह भी इसकी खूबी है। हम जो कुछ भी देखते रहते हैं उसकी एक छाप मन पर पड़ती रहती है। यहाँ हाथी, केले के पेड़, तथा किन्हीं धब्बों को देखते रहने की ही एक छाप है। हाथी के पाँव जिस तरह अपने आप आ गए हैं, बिना किसी कोशिश के बनाए हुए। वे सचमुच उठते-गिरते हुए लग रहे हैं। कुल मिलाकर यह कि हाथी जैसे भारी भरकम जीव को भारी भरकम ढंग से न बनाकर, ऐसे बनाया गया है, जैसे वह कागज़ हो। कभी-कभी लोग हाथी को बिलकुल हाथी जैसा बनाकर उसे ऐसा रूप दे देते हैं कि उसे देखते हुए हम एक बोझ का अनुभव करते हैं। पर यहाँ लगता है हम हाथी को एक हथेली में उठा सकते हैं। एक बार मेरी नातिन गौरजा एक खिलौना हाथी को एक छोटी-सी बालटी में रखकर उसे धोने जा रही थी। तभी किसी का फोन आ गया। उसने रिसीवर उठाया तो उधर से आवाज़ आई, "गौरजा क्या कर रही हो?" तो उसने कहा, "हाथी को बालटी में रखकर साफ करने जा रही हूँ। वह कुछ मैला हो गया है।"

बात तो सच थी वह बालटी में हाथी को रखकर उसे धोने ही जा रही थी। खिलौने का हाथी भी कहलाएगा तो हाथी ही।

सो इस चित्र खिलौने को देखकर मुझे मज़ा आ गया। मैंने इसे अपनी आँखों से उठाया तो यह उनके भीतर आकर बस ही गया।

– प्रयाग शुक्ल

*वरिष्ठ कवि, कथाकार, कला समीक्षक*

नितिन के.डेविड, 6 साल, केरल
दिसम्बर 1988 में प्रकाशित

हाथी जैसे भारी भरकम जीव को ऐसे बनाया गया है, जैसे वह हल्के कागज़ जैसे वज़न का हो। जिसे हम एक हथेली में उठा सकते हैं। बालटी में रखकर धो सकते हैं।

**केरल** के छह साल के डेविड का यह हाथी दरअसल उसके भीतर झाँकने की एक खिड़की है।

कलाकार, शिक्षाशास्त्री और मनोवैज्ञानिक इस बात को लेकर हमेशा उत्सुक रहते हैं कि एक बच्चे के दिमाग में चल क्या रहा होता है जिससे वो इतने आजाद चित्र बना पाता है। इन चित्रों को देखकर हम जो चमत्कृत रह जाते हैं वो दरअसल उसके अनुभव से उपजी खुशी और सन्तुष्टि है।

यह चित्र कलाकार की इस हाथी से रिश्ते की कहानी है। इसमें पर्सपेक्टिव (देखनेवाले से दूरी के आधार पर यह तय होना कि चीज़ें आपस में कैसी नज़र आएँगी) का कमाल भी देखा जा सकता है। ज़ाहिर है यहाँ बच्चा एक छोटा-सा दर्शक है। उसे तो हाथी उससे भी विशाल नज़र आता है जितना असल में वो है। इसलिए हाथी के ऊपर बैठे लोगों को उसने नन्हे धब्बों के रूप में दिखाया है। वो हाथी की सूँड पर चन्दन से की गई सजावट को भी दिखा पाया और पीछे लटकती छोटी-सी पूँछ को भी जो उसके पाँव की ओर झूल रही है। हाथी शायद चल रहा है...शायद वो बच्चे के पास से गुज़रा हो; किसी उत्सव के जुलूस का यह हिस्सा उसे याद रह गया हो।

बच्चे अपने भीतरी अनुभवों पर आधारित एक ऐसी भाषा में खुद को प्रकट करते हैं जो सभी के लिए समान है। वो सारी बातें जो उनके दिल के बहुत करीब हैं उन्हें कल्पना का जामा पहनाकर वे कागज़ में उकेरते हैं।

स्पेन के महान चित्रकार पिकासो बच्चे की-सी सरलता से चित्र बनाने की कोशिश में रहते थे। वे कहते थे, "हर बच्चा एक कलाकार होता है। पर समस्या यह है कि बड़ा होने के बाद भी कैसे कलाकार बना रहा जाए।"

बच्चे अपनी ख्वाबी दुनिया में रहते हैं। और इस उम्र में उन्हें खुद को ज़ाहिर करने में हरगिज़ हिचक नहीं होती। चूँकि अब तक उनका शब्द भण्डार बहुत विकसित नहीं होता, वे चित्रों में सोचते हैं। उनकी मासूमियत उन्हें चीज़ों के मूल तत्वों को जज़्ब करने में उनकी मदद करती है। और यही उनके चित्रों से बाहर झाँकती है। उनके चित्रों में वो होता है जो उन्हें महसूस हुआ है... वो नहीं जो उन्होंने देखा है। जीवन को उनका देखना उनके जज़्बातों से रंगा होता है जो उन्होंने अनुभव किए होते हैं। और यही बात "बच्चों के चित्रों" को बड़ों के लिए इतना खास बनाती है।

– निधि खुराना

*चित्रकार और शिक्षाशास्त्री*

**केरल** के छह साल के नितिन का मन्दिर के हाथी का यह चित्र असाधारण है। इसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। चित्र की काफी-सारी जगह विशाल हाथी ने ले रक्खी है। ऊपर बैठी दो नन्ही आकृतियाँ महज धब्बों जैसी लग रही हैं। क्या वहाँ कोई तीसरा भी है? शायद महावत हो! नितिन केरल के मन्दिरों की परम्परागत छतरी भी बनाना नहीं भूला। इसमें अनुपात का ख्याल बारीकी से रखा गया है। एक छोटा बच्चा एक विशाल जीव को कैसे देखता है! मुझे याद आता है कि बड़े होने के बाद जब मैं अपने पहले स्कूल गया तो वहाँ रखी मेज़-कुर्सियाँ मुझे मेरी तुलना में बहुत ही छोटी लगीं। पर जब मैं उन पर बैठता था तो ऐसा बिलकुल नहीं लगता था। मुझे याद आया कि मेरी तीन साल की बेटी को हमारा पहला छोटा-सा घर बहुत अच्छा लगता था। वहाँ सब कुछ उसके हिसाब से, उसकी पहुँच में था। तो मैं कहना चाहता हूँ कि अनुपात को किसी की तुलना में ही देखा जा सकता है। विशाल हाथी एक छोटे बच्चे को और भी विशाल लगता है। और चित्र में इस विशालता को नितिन ने बड़ी खूबसूरती से दर्शाया है।

इसके अलावा इसमें ब्रुश का इस्तेमाल बहुत सधा और पूरे विश्वास से किया है। इस उम्र में ब्रुश का इस आवेग से इस्तेमाल आसान नहीं।

पेज 52 पर भी

**सबसे** पहली बात जो इस चित्र में मुझे अनोखी लगी वो यह कि उजले और काले के बीच कितने रंग हैं इसमें। मानो वो रंग न हों, अलग-अलग सतहें हों और उन सारों के योग से हाथी की त्वचा कितनी घनी और मोटी (बिलकुल हाथी जैसी, कागज़ से उभरती हुई) प्रतीत होती है। और चित्र देखकर ये आभास होता है जैसे ये कारनामा बिना किसी जद्दोजहद के कर दिया गया है, पहले स्ट्रोक में।

जब इस पड़ाव से पार हुई तो मेरा ध्यान हाथी के मुँह पर गया, जो अभी तक बाईं तरफ देखता लग रहा था। अचानक वो मुड़ा और मेरी आँखों से आँखें मिलाकर देखने लगा। अब तक जो उसके कान थे, उसके गहने बन गए। इससे न केवल मेरे अन्दर भावनाओं की लहरें उठीं, हाथी के चेहरे का भाव भी बदला। जैसे सामने देखकर थोड़े गुस्से से कह रहा हो, मुझे ठीक से देखा भी नहीं था अब तक? मैंने झट-से हाथी से नज़र बचाकर ऊपर देखा तो खुश हो गई। वहाँ दो या शायद तीन नन्हे बच्चे छतरी के नीचे ऐसे मज़े से बैठे हैं जैसे किसी मैदान में बैठे हों। थोड़ी देर में ही उनकी सहजता ने मुझे भुला दिया कि वो हिस्सा हाथी की पीठ है। मेरी कल्पना उन बच्चों की दुनिया में फिसल गई।

हम सिर्फ वही नहीं देखते जो बना होता है बल्कि दर्शक की भावना और चित्र मिलकर एक अलग ही चित्र रचते हैं उसकी कल्पना में। और मुझे वो चित्र अच्छे लगते हैं जिनमें कल्पना की यह पुलक ज़्यादा हो। और यह कम से कम रेखाओं और रंगों से मिल जाए तो चित्रकार को सलाम!

– राजकुमारी

*चित्रकार, लेखक, इंजीनियरिंग की पढ़ाई*

..पिछले पेज से आगे

पेंट ब्रुश के छूटे निशान अकसर भद्दे लगते हैं पर यहाँ काले-ग्रे के स्ट्रोक्स बेहद सफाई से अपना काम कर गए हैं। एक भी चीज़ अतिरिक्त नहीं, अनुपयुक्त नहीं! हाथी के परम्परागत ज़ेवरातों को भी इतने कम में पर इस बारीकी से दिखाया गया है कि बस कमाल है। कागज़ की सफेदी को बड़ी ही सूझ से यूँ ही छोड़ दिया है ताकि उसके सिर पर पहने ज़ेवरातों का आकार नज़र आ जाए। बस ब्रुश की नोक से बने कुछ टिपके हाथी की सजावट की पूरी कहानी कह रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि बच्चे ने ऐसे किसी हाथी को बहुत करीब से देखा है और उस आँख से जो हर तफसील को बारीकी से दर्ज करती जाती है। यह एक पेंटर की आँख है!

– इन्द्रप्रॉमित रॉय

*चित्रकार,। एम. एस. यूनीवर्सिटी, बड़ौदा में अध्यापन*

# हाथीसवार
# हम राजकुमारों की जमात

**चित्र** देखकर मुझे एक फ्रांसिसी लेखक की कहानी याद आ गई। *लिट्ल प्रिन्स* यानी नन्हा राजकुमार। वह किसी राजा का बेटा नहीं है। बस, प्यारा-सा है इसलिए उसका नाम राजकुमार है। वह फ्रांसिसी भी नहीं है क्योंकि वह एक छोटे-से ग्रह पर रहता है। ग्रह इतना छोटा है कि बच्चा कुछ पल में ही उसकी परिक्रमा कर लेता है। उस ग्रह पर तीन ज्वालामुखी और एक नखरेबाज़ फूल भी है। मगर अभी हम उस कहानी में नहीं जाएँगे।

इस ऊँचे-से हाथी की बड़ी-सी पीठ पर दो बच्चे बैठे दिखाई दे रहे हैं। यह हाथी उस ग्रह से तो निश्चित ही बड़ा है और उसकी पीठ मानो एक आँगन। मैं बच्चा बनकर सोचता हूँ तो पाता हूँ कि

**यह** पेंटिंग मुझमें उम्मीद और सकारात्मकता के ज़बर्दस्त भाव पैदा करती है। रंगों का ताबड़तोड़ और उन्मुक्त इस्तेमाल है – गहरे नारंगी से नीले से हलके हरे से धूपदार पीला – हमारे मनों में गर्माहट भर देता है। बेरोक और आज़ाद लकीरें उसकी चिड़िया में उड़ान भर देती हैं। जैसे किसी भी पल वो खुले आकाश में उड़ जाएगी। यही चीज़ चिड़िया को बहुत कीमती बना रही है... इससे पहले कि बहुत देर हो जाए हम उसकी सुन्दरता को निहार लें! उसे छू लें! क्या प्रकाश हमें याद दिला रहा है कि हमें भी तो अपने पँख फैलाकर ऊपर बहुत ऊपर उड़ना था! उसकी चिड़िया की तरह। पूरे विश्वास के साथ। अपनी सम्भावनाओं को पँख लगाने हैं हमें भी तो ...

– कैलिन बर्नी ओ डाउड

*मंज़िल, दिल्ली में बच्चों के साथ वॉलंटियर के रूप में साल भर कला व भाषा पर करने के बाद अब लंदन में पढ़ रही हैं।*

प्रकाशचन्द्र मुखाती, आठवीं, खरगौन, मध्यप्रदेश
जनवरी 1989 में प्रकाशित

मुझे खेलने के लिए हमेशा ही एक आँगन की आवश्यकता नहीं होती। बल्कि कई बार पलंग पर बैठे-बैठे कुछ खेलना मुझे अधिक सुहाता। साथ में मेरी एक दोस्त भी है – सुषमा। बचपन में हम दोनों में बहुत पटती थी। एक छातेनुमा कुकुरमुत्ते के नीचे बैठे हम गपिया रहे हैं। अब मुझे वे सारी बातें याद आ रही हैं, दुत्तल्ले मकान की छत पर खड़े होकर हम जिन पर गौर किया करते थे। नीचे पेड़ों पर लदे कच्चे सीताफल, मुँडेर पर घोंसलों की फिराक में चलती बिल्लियाँ, जाड़े के आकाश में रज़ाई बने बादल... वगैरह। हाथी पर बैठे ये बच्चे भी किसी अलग दुनियावी बातों में मशगूल हैं।

हाथी कुछ अधिक ऊँचा लग सकता है। परन्तु सोचिए, जो वस्तु बड़े लोगों को वैसे ही ऊँची लगती है, वह छोटे बच्चों को चार गुना ऊँची लगेगी या नहीं? चित्र में हाथी की लम्बी टाँगों का एक कारण है। नीचे से ऊपर की ओर देखने पर छोटे बच्चों को टाँगें ही काफी ऊँचाई तक जाती दिखाई देती हैं। यही तो बच्चों और बड़ों के देखने (पर्स्पेक्टिव) का अन्तर है।

अब बड़े इस उलझन में पड़ जाएँगे कि बच्चे हाथी पर चढ़े कैसे होंगे? या उतरेंगे कैसे? वैसे ही जैसे उत्तरी ध्रुव से कोई पृथ्वी पर उतरना शुरू करे तो वह बिना आकाश में गिरे भूमध्य रेखा तक पहुँचेगा ही। पृथ्वी गोल है तो हाथी भी गोल है। अगर यह बात समझने में आपको कठिनाई हो रही है तो आप बड़े और असहज हो चुके हैं।

पनियल काले रंग से बना यह चित्र सुन्दर है। खिलौना हो या चित्र वह सुन्दर तभी होगा जब केवल दिखने से ज़्यादा वह खेलने और कल्पना की पतंग उड़ाने के काम आए। कैसी मज़े की बात है कि उस राजकुमार की उम्र छह वर्ष की थी और इस चित्रकार की उम्र भी छह वर्ष ही है। पुस्तक के चित्र भी पनीले काले रंग में ही बने हैं। मैं नन्हे राजकुमार के प्रकाशक को लिखूँगा कि वह अगली बार यही चित्र पुस्तक के मुखपृष्ठ पर छापे।

– दिलीप चिंचालकर

*लेखक, चित्रकार, यायावरी के शौकीन*

# न्यूनतम और अमूर्त

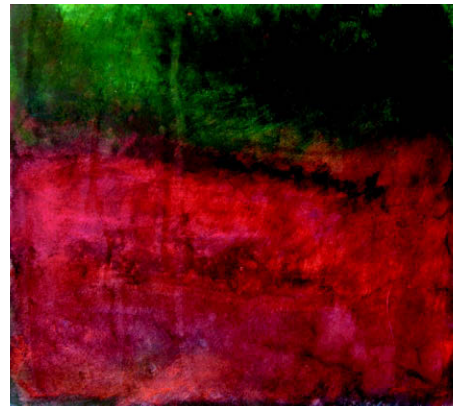

**चित्रों** का चुनाव मेरे लिए आसान न था, खासतौर पर तब जब मैंने सोच लिया था कि चुनते वक्त मैं बच्चे की न तो उम्र, न नाम, न लिंग और न इसका ख्याल रखूँगी कि वो कहाँ रहती/रहता है। पर शायद बतौर कलाकार हमारी आँख वहीं रुक जाती है जो काम हमारे कामों से ज़्यादा मेल खाते दिखते हैं। तो मुझ जैसे कम से कम में काम चलाने के हामी को दो चित्रों ने बेहद प्रभावित किया – एक तो नितिन के हाथी ने और दूसरा, शिवम नरवरिया की इस लाल अमूर्त्त पेंटिंग ने। इतने कम इशारों से कितना कुछ कह रहे हैं ये।

## काला हाथी

एक काले हाथी की साधारण-सी लगनेवाली यह पेंटिंग दरअसल बहुत सूझबूझ और ध्यान से बनी हुई है। कलाकार ने हाथी को करीब से जाना-देखा है। यह उसके खड़े होने की मुद्रा से ज़ाहिर है। उसके ज़रा-से घूमे धड़ में गति का इशारा है। जिस यकीन के साथ उसने सिर्फ एक काले रंग के अलग-अलग शेड्स और खाली सफेद जगहों से पूरे पन्ने पर पकड़ बनाई है, यह चुनाव एक बेहद समझदार और दूरदर्शी कलाकार का ही हो सकता है। न्यूनतमता की तमाम सीमाओं के बावजूद, ब्रुश के कुछ बेझिझक, खुले स्ट्रोक्स ने उसकी लहराती-झूमती चाल को, उसकी पीठ पर बैठे लोगों की तुलना में उसके भारी-भरकम शरीर को, उसकी टाँगों और सूँड के घुमावों-लय को, यहाँ तक कि उसकी मोटी चमड़ी के टेक्सचर को भी बेहद बारीकी से पकड़ा है। इसकी कुछ तफसीलें तो आपको एकदम कायल बना देती हैं – जैसे वो गोले जो दरअसल उसकी आँखें हैं, उसके माथे की सजावट, लोगों के सिर और छतरी की लटकनें। और ये सब एक बहुत ही सुरुचिपूर्ण डिज़ाइन में जगह पा रहे हैं। मेरे कितने ही कलाकार मित्रों समेत मैं भी एक ऐसा चित्र बना पाना चाहूँगी!

## वो लाल अमूर्त्त पेंटिंग

भारतीय परम्परा में लाल रंग को बड़ी अहमियत हासिल है। शादी-ब्याह, पूजा-पाठ, चूड़ियाँ, समृद्धि... सब का रंग लाल। पर मेरे लिए यह शानदार, परतदार लाल उन सब से कहीं बढ़कर है।

कलाकार ने जिस हुनरमन्दी से एक गहरे रंग के ऊपर इसे फैला दिया है और उस पर उभारने के लिए नारंगी की छिट-पुट डाल दी है, उससे यह एक बेइन्तहा दमदार पेंटिंग बन गई है। मेरे लिए तो यह प्रकाश के चटक रंगों, उत्कंठा या एन्द्रियता, जुनून और सकारात्मक ऊर्जा का चित्रण है। यह बहता-चकराता लाल और उस पर बिखरा बासन्ती हरा – शायद यह पृथ्वी की खूबसूरती और ओज़ की बानगी है। यह हमें याद दिलाता है कि अगर हम पृथ्वी के जादू और रहस्यों को देख और समझ भर जाएँ तो जीवन की हर साँस नई और सकारात्मक ऊर्जा से लबरेज़ हो जाएगी।

– सबा हसन

*चित्रकार, शिल्पकार, मानवविज्ञानी। कलाओं पर सघन लेखन।*

# पतंगें नहीं आकाश में एक दस बरस की बच्ची का उड़ता हुआ मन

**अच्छे** चित्रकार चीज़ों या दृश्यों को, हूबहू वैसा नहीं बनाते जैसे वे हैं। वे अकसर उनके बारे में अपनी सोच को चित्रित करते हैं।

पतंगों से भरे इस आकाश में न बादल हैं, न चिड़िया। यहाँ तक कि नीला रंग तक नहीं है। सिर्फ पतंगें। नीली, हरी, पीली, सिन्दूरी, बैंगनी पतंगें और उनके लम्बे लोचदार रंगीन धागे आकाश को रंगीन, भारहीन और कोमल बनाते हुए। इतनी सारी पतंगों में एक बच्ची का मन है, उड़ता हुआ।

इस चित्र में दो भारी भरकम इमारतें भी हैं। हालाँकि उनकी हर मंज़िल के रंग में पतंगों के रंग हैं और रेखाएँ कोमल लेकिन उनके आकार, मंज़िलों की समान ऊँचाई और खिड़कियों की पंक्तिबद्धता जहाँ उन्हें कुछ भारी और एकरस बना रही है वहीं इसके उलट हर पतंग के अलग डिज़ाइन, अलग रंग और अलग दिशा और स्थिति ने पूरे दृश्य को गति, ऊर्जा और मुक्ति के एहसास से भर दिया है।

बच्चे शायद बहुत सोचकर चित्र न बनाते हों लेकिन दृश्यों को लेकर उनके विचार और भावनाएँ निश्चित ही उनमें अंकित हो जाती हैं।

अशोक वाजपेयी ने अपनी एक कविता में कहा है – दृश्य स्वयं एक पर्दा है। दरअसल दृश्य के पीछे भी दृश्य होते हैं। और इस तरह दृश्य स्वयं एक पर्दे में बदल जाता है। लेकिन मुझे लगता है इस दृश्य का पर्दा खासा पारदर्शी है।

पतंगें, ज़ाहिर है कुछ लड़के उड़ा रहे होंगे। पतंगें लूटनेवाले कई झाड़ भी हैं, यह भी लड़कों के हाथों में होंगे और जो मन्दिर पर चढ़ा है वह भी लड़का ही होगा। यहाँ इमारतें हो या मन्दिर वे पतंगें उड़ाने के लिए ही बने हैं लेकिन लड़कों के आकार बहुत साफ नहीं हैं। वैसे भी पतंगें ज़्यादा हैं, लड़के कम।

लड़कियों को तो कोई पतंग उड़ाने नहीं देता। शायद इसलिए वे दृश्य में कहीं नहीं हैं। तो फिर लड़के कोई भी हों, संजना को इससे क्या मतलब पतंगों के धागे किन हाथों में हैं। चित्र में यह बात महत्वपूर्ण ही नहीं है। चित्रों में खाली जगह भी महत्वपूर्ण होती है। जैसे भाषा में दो शब्दों के बीच का अन्तराल या संगीत में दो स्वरों के बीच का मौन। इस चित्र में लड़कों के आकारों का धुँधला होना और लड़कियों का कहीं न होना भी कुछ कह रहा है?

– नरेश सक्सेना

*वरिष्ठ कवि, नाटककार, फिल्मकार। विभिन्न कलाओं में काम।*

दृश्य स्वयं एक पर्दा है।
दरअसल
दृश्य के पीछे भी दृश्य होते हैं
जो सामने वाले दृश्य के
पीछे छुपे होते हैं।

**बच्चा** सबसे पहले चीज़ों की पहचान उनके आकारों से ही करता है। इसीलिए स्कूलों में छोटे बच्चों की विभिन्न आकारों से पहचान बढ़ाई जाती है। बच्चा जब पहले-पहले अपनी रचनात्कता को रूप देने की कोशिश करता है तो आकार इसमें बहुत मदद करते हैं। आकारों से पहचान हो जाने के बाद बच्चा उन्हें जोड़-जोड़कर किसी पहचानी हुई वस्तु का सृजन करने लगता है।

इस चित्र में आकारों और रंगों की ऊर्जा को साथ आते और एक ज़बर्दस्त जोशीले और खुश चित्र का रूप पाते देखती हूँ।

इमारतें एक के ऊपर एक रखे रंगों के आयताकार पट्टे-सी हैं। क्रेयॉन की गहरी काली लकीरें इन पट्टों को अलग किए हुए हैं। हर पट्टे में बनी छोटी चौकोर खिड़कियाँ अलग-अलग मंज़िल का पता दे रही हैं।

खिड़कियों के आकार के जुड़वाँ आकार आसमान में भी नज़र आ रहे हैं – छत पर खड़े बच्चों की रंग-बिरंगी पतंगें बनकर। लम्बे, रंगीन धागे पतंगों के पीछे-पीछे हैं – उनका अपना एक अलग जीवन है।

सपाट रंगोंवाली जड़ खड़ी इमारतें, आसमान में उड़ रही छोटी पतंगों के सामने कॉन्ट्रास्ट की तरह लग रही हैं। सीधे-तने धागों से वे तिरछी होकर आसमान में उड़ रही हैं। स्थिरता और गति का यह संयोजन, चटक रंगों के साथ चित्र को एक जीवन, एक उत्साह से भर दे रहा है।

इस चित्र की जिस चीज़ ने मुझे ज़बर्दस्त प्रभावित किया वो है पतंगों से चित्र में पैदा हो रहा पर्सपेक्टिव का इशारा। पूरा चित्र सामने से देखा हुआ दृश्य-सा है – चाहे वो इमारतें हों, बच्चे हों या कि मन्दिर। सबका सिर्फ सामने का हिस्सा दिख रहा है। पर उड़ती पतंगों से पैदा हो रहे पर्सपेक्टिव ने जैसे पूरे आसमान को खोल दिया है। उसमें गहराई का एक आयाम जोड़ दिया है। यह एक अनन्त विस्तार की ओर इशारा है।

संजना ने आपाधापी से भरे शहरी जीवन की एक घटना को बड़े सरल ढंग से पेश किया है। और उसे सरल-सहज और समझ सकने लायक बना दिया है। पर ऐसा करते हुए उसकी जीवन्तता बरकरार रही है। इस खालिस मस्ती का उत्सव मनाने के लिए रूप (फॉर्म), रेखाएँ और रंग सभी शामिल हो गए हैं। बच्चों से ज़्यादा यहाँ पतंगें उन्मुक्त आकाश में खुशियाँ मना रही हैं – साथ में हैं कई रंगों की विशाल इमारतें।

बच्चों की कला में कभी-कभी वो पहलू नज़र आ जाते हैं जो बड़े हो चुके कलाकारों के काम से गायब हो चुके हैं – सादगी, निडरता और सहजता। अकसर कहा जाता है कि कला वहाँ से शुरू होती है जहाँ बौद्धिकता खत्म होती है। और यहाँ संजना के इस चित्र में मुझे उम्मीद, यकीन और रचने का मज़ा नज़र आ रहा है – जो अब लुप्त होता जा रहा है...

– सोनाली बिस्वास

*चित्रकार*

# बच्चों की चित्रकला

**बहुत** साल पहले मैंने बच्चों की चित्रकला को लेकर एक कविता लिखी थी – बच्चों की चित्रकला प्रतियोगिता। मुझे बच्चों द्वारा बनाए गए चित्र हमेशा ही आकर्षित करते रहे हैं। कुछ लोग मानते हैं और शायद उनका मानना ठीक भी होगा कि बच्चों के बनाए चित्रों को चित्रकला के खाते में नहीं रखा जाना चाहिए। हालाँकि मैं इस तरह नहीं सोचता। मुझे हमेशा ही लगता है कि बच्चों के पास रंगों के उपयोग और रेखाओं और आकृतियों को अपने ढंग से विज़ुअलाइज़ करने, देखने का एक ढंग होता है। और यह बड़ों से और विशेष रूप से उन बड़ों से जो चित्रकला सीखे हुए हैं, जिन्हें थोड़ा या बहुत प्रशिक्षण मिला हुआ है, से भिन्न होता है। वास्तविक दृश्य के विवरणों को पकड़ने और उन्हें अपने चित्र का हिस्सा बनाने का एक अलग ही ढंग बच्चों में होता है। आपको लग सकता है कि उसमें आयाम नहीं हैं। उसमें अनुपात गड़बड़ हैं। हो सकता है कि उसमें बनाए गए पेड़ के पत्तों से जिस पेड़ की जाति का आभास होता है, उसके फूल एकदम दूसरे पेड़ या पौधे की जाति के हों। यथार्थ को देखने या सोचने का उनका अपना अन्दाज़ है।

संजना का यह एक सुन्दर चित्र है – शहर में हो रही पतंगबाज़ी को लेकर। इसमें बनी बहुमंज़िला इमारतें डिब्बों की तरह लग सकती हैं। उनकी चौड़ाई या गहराई का एहसास चित्र से नहीं होता। उसकी हर मंज़िल का रंग अलग है। लेकिन उड़ती पतंगों से भरे आसमान और एक-दूसरे को काटती पतंग की डोरियों को देखें तो चित्र में दूसरे आयाम दिखने लगते हैं। तब बहुमंज़िला इमारतों की तरह दृश्य एकआयामी या सपाट नहीं रहता। आधुनिक शहरों में बनी बहुमंज़िला इमारतें एक स्तर पर अपने वास्तुशिल्प में इतनी ही सपाट हैं जैसी इस चित्र में दिखाई पड़ रही हैं। हो सकता है देखने का यह ढंग कोई बहुत चेतस न हो। इमारतों का सपाट होना बच्चे के अवचेतन का हिस्सा हो। बच्चे के देखने का यही ढंग उसे बड़ों से अलग करता है।

संजना, 10 साल, गुजरात
अप्रैल 1993 में प्रकाशित

इसी तरह एक दूसरा चित्र है (चित्र पेज 47 पर देखें) – सड़क के किनारेवाले ढाबे का। यह काफी हलके रंगों से बनाया गया चित्र है। जैसे कि अकसर सड़क किनारे के ढाबे होते हैं। लेकिन इस चित्र में ढाबे के अन्य विवरणों को रिद्धि जैन ने बहुत बारीकी से पकड़ा है। कभी-कभी इस चित्र को देखकर लग सकता है कि यह स्पॉटपेंटिंग की तरह बनाया गया चित्र है। लेकिन शायद ऐसा नहीं है। बच्चों की स्मृति अपने ढंग से चीज़ों को संग्रहित करती है। सबसे दिलचस्प है कि इस ढाबे में एक आदमी ट्रक से निकाले गए टायर पर बैठकर चाय पी रहा है। एक फालतू हो चुका टायर पेड़ पर टँगा है। दो लोग बैंच पर बैठकर चाय पी रहे हैं और सामने समोसे रखे हुए हैं। एक कुत्ता उस खाने की चीज़ को देख रहा है। सामने के काउण्टर पर भट्टी पर कढ़ाई रखी जा रही है। हो सकता है कि दिखाई दे रही गैस की टंकी अनुपात की दृष्टि से थोड़ी बड़ी लगे और उसके रखे होने की जगह को लेकर भी थोड़ा विचार किया जा सकता था। लेकिन इस सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण हैं वे ब्यौरे....वे विवरण जो इस चित्र ने अपने में समेटे हैं। विवरणों की दृष्टि से मितेष धुधेड़ा का छोटे कस्बे का रेलवे स्टेशन भी महत्वपूर्ण चित्र है।

बच्चे कुदरती चित्रकार होते हैं
क्योंकि वो अपने मन की ज़्यादा सुनते हैं।

**मुझे** भेजे तमाम चित्र असाधारण कला के नमूने हैं। कितने ही वयस्क चित्रकार दुनिया को उस तरह चित्रित करने की कोशिश में पूरा जीवन लगा देते हैं जैसे बच्चे इस दुनिया को देखते हैं। वो इससे विचलित नहीं होते कि एक चित्र में क्या होना चाहिए या वो कैसा होना चाहिए – उसका कम्पोज़ीशन, रंग या अर्थ। बच्चों की कला सीधे दिल से निकलती है बिना किसी बनाव-श्रृंगार के। मैं एक प्राथमिक स्कूल की टीचर को जानती थी जो अपनी कक्षा के कुछ बच्चों के चित्र अपने घर ले जाती थीं और बेहतर कागज़ पर, बेहतर रंगों से उनकी नकल भी करती थीं। यह सब इसलिए कि उनसे कुछ प्रेरणा पा सकें।

बच्चे कुदरती चित्रकार होते हैं क्योंकि वो अपने मन की ज़्यादा सुनते हैं। जबकि बड़े सन्तुलन, पर्सपेक्टिव, रंग जैसे झमेलों में फँसे रहते हैं। बच्चा बस चित्र बनाता है। और जैसे ही उसका चित्र उसे सही लगता है वो उसे बनाना बन्द कर देता है। वो मानता है कि वो अपने मन का कुछ बना रहा है जो उसका नितान्त अपना है और शुरू से आखिर तक दिलचस्प है। सबसे ज़रूरी है अपनी कला पर यकीन होना। कला विद्यालय तकनीक और कौशल तो सिखा सकते हैं लेकिन कला तो कलाकार की दृष्टि से देखी दुनिया का बिम्ब है।

मैं सोचती हूँ कि काली लकीरों से इस चित्र को बनाते समय नितिन सोच क्या रहा होगा! (चित्र देखें पेज...पर)। मेरे लिए हाथी पर पिकनिक मनाते एक परिवार का यह एक गज़ब का दृश्य है। वो ज़रूर उस विशालकाय छतरी की छाँव का मज़ा ले रहे होंगे।

हैरान हूँ कि वो ऊपर चढ़े कैसे होंगे और उतरेंगे कैसे? इत्ते बड़े हाथी को देखकर मज़ा आ गया! उस पर बैठे लोग कितने छोटे लग रहे हैं! मुझे लगा कि बच्चों को ज़रूर लगेगा कि हाथी ठीक इसी नाप का होता है। शायद इस हाथी पर खेलने की काफी जगह हो! गज़ब का चित्र है ये इतने थोड़े रंगों में बना हुआ। सलाम!

नितिन डेविड जिनकी उम्र सिर्फ 6 वर्ष है का हाथी एक अद्‌भुत चित्र है (चित्र पेज 50 पर देखें)। अकसर यह माना जाता है कि बच्चे काले रंग का इस्तेमाल नहीं या कम करते हैं। लेकिन यह तो सिर्फ काली रोशनाई से ही बना चित्र है। इस चित्र में कोई रंग हैं ही नहीं। पर हो सकते थे। हाथी के मस्तक पर लटकनेवाले सजावटी कपड़े को रंग-बिरंगा किया जा सकता था। हाथी के हौदे और उस पर लगी छतरी और उसमें बैठे लोग भी रंग में हो सकते थे। लेकिन इसमें कोई रंग नहीं है। हाथी एक ऐसा आकार है जो अकसर बच्चों को आकर्षित करता है लेकिन बच्चे उसे एक अलग तरह से ही बनाते हैं। नितिन का हाथी इस अर्थ में भी अलग है कि उसमें एक खास तरह की मुद्रा भी.....हाथी की एक भंगिमा भी नज़र आ रही है। ऐसा अकसर नहीं होता। इतनी कम उम्र के बच्चे से ऐसा होना थोड़ा आश्चर्यचकित करता है। चक मक

– राजेश जोशी

*हिन्दी के सुपरिचित कवि*

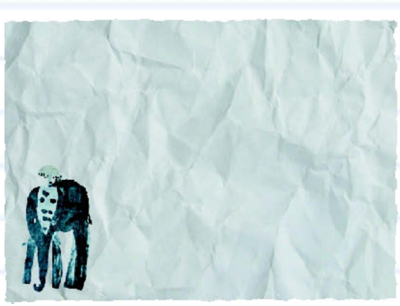

कभी-कभी चीज़ों को तस्वीर से हटा देना भी उसे प्रभावी बना देता है। मुझे गाय और उसके पेट में बच्चा गाय का ये चित्र बहुत अच्छा लगा (चित्र देखें पेज 39 पर)। कीथ हेरिंग के चित्रों की याद हो आई जो इसी तरह के चित्रों के लिए चर्चित हैं। उनकी कला का एक नमूना तुम भी देखो –

बछड़े और आदमी को निश्चित ही दूध बाँटना पड़ता होगा फिर भी दोनों बहुत खुश और सन्तुष्ट दिखते हैं। गाय का सर छोटा है और बाकी शरीर बड़ा। चित्र में सभी अहम हिस्सों पर खास ज़ोर दिया गया है।

संजना की पतंग का चित्र रंग और आकार के हिसाब से सचमुच एक क्लासिक है (चित्र देखें पेज 56 पर)। इसमें वो सब कुछ है जो एक बढ़िया पोस्टर कला में होना चाहिए। यह ध्यान खींचनेवाला एक बेहद सन्तुलित चित्र है जो मन खुश कर देता है। समाज में व्याप्त तमाम असमानताओं के बावजूद, समाज का एक हिस्सा होने की खुशी इसमें दिख रही है। चित्र में सभी खुश हैं। सारी बारीकियाँ आसपास की सामाजिकता में ही नज़र आ रही हैं – आकाश, मैदान, पेड़ और दूसरे प्राकृतिक पहलू गायब हैं। इसी वजह से चित्र में पूरा ध्यान पतंग उड़ानेवालों पर जाता है। यह चित्र संग-साथ का एक सुन्दर चित्रण है।

– मिशैल कूपर

*मिशैल चित्रकार हैं और नदी के पत्थरों से शिल्प गढ़ती हैं। मॉन्ट्रिअल में रहती हैं।*

**इस** चित्र की पहली चीज़ जो आपका ध्यान खींचती है वो है इसका मस्ती भरा सहज भाव। उसने जिस तरह लड़की की फ्रॉक को तिकोन बना दिया, हाथों की उँगलियाँ कुछ मोटी और कुछ छोटी बना दीं। पास खड़े लड़के के हाथ भी मोटे-मोटे व उँगलियाँ किसी में चार, किसी में तीन – लेकिन यह सब अजीब नहीं लग रहा। बल्कि उसके भाव को और उभार रहा है। कुछ चीज़ें बच्चे दिमाग से नहीं बल्कि अपने अन्दर के एहसास से बनाते हैं। अगर हम सब चीज़ें जैसी दिखती हैं वैसी ही बना दें तो उसमें हमारा क्या योगदान होगा। निकिता ने बहुत ही सरलता से, अनायास एक मस्ती-भरे भाव के साथ चित्र बनाया है। उसने जो रंग इस्तेमाल किए हैं और जिस तरह से उन्हें लगाया है उसमें एक खुलापन है, जो बचपन में ही महसूस होता है। एक आज़ादी जो शब्दों में बहुत छोटी लगती है, लेकिन वास्तव में बहुत बड़ी चीज़ है।

निकिता का एक और अवलोकन मुझे बहुत भा गया। बाईं ओर की लड़की के हाव-भाव में खुशी झलक रही है – दोनों हाथ ऊपर, सिर आसमान की तरफ और एक बड़ी-सी हँसी। जिस तरह बाल बनाए हैं, लगता है जैसे वह साईड प्रोफाईल दिखाना चाहती है। वहीं दाहिनी ओर जो लड़का खड़ा है वह गर्दन हलकी-सी नीचे किए रो रहा है। यह एक बहुत ही बारीक लेकिन महत्वपूर्ण अवलोकन है – कैसे खुशी से पूरे हावभाव बदल जाते हैं और कैसे दुख में गर्दन नीचे झुक जाती है।

– मुदिता भण्डारी

*मिट्टी के शिल्प बनाती हैं।*

निकिता डहरवाल, चार साल, भिलाई, मध्य प्रदेश 1996 में प्रकाशित

**मुझे** नहीं पता है कि आरव कितने साल का है और उसे स्कूल या घर में चित्र बनाना या पेंटिंग करना सिखाया गया है या नहीं, पर मुझे लगता है यह किसी भी इंसान के लिए बहुत आम बात है। खासतौर पर उनके लिए जिन्हें इस बात की कोई फिक्र नहीं रहती कि लोग उनके काम के बारे में क्या सोचेंगे। सब लोग कला में अपना अलग अर्थ देखते हैं। अगर मैं आरव से उसके इस चित्र पर लिखने या बोलने को कहूँ तो वो उससे बिलकुल अलग होगा जो मैं इस चित्र में देखता हूँ।

मुझे जिस चीज़ ने अटका लिया वो है खुले और दमदार स्ट्रोक्स जो चित्र में एक जीवन्त हलचल पैदा कर रहे हैं। अगर मुझे इस चित्र को कोई नाम या शीर्षक देना हो तो मैं इसे "क्रान्ति" नाम देता। मेरे लिए काला रंग उस जाती हुई भीड़ को दिखा रहा है जो पृथ्वी से एक उम्मीद की तरफ चले जा रहे हैं जहाँ उनका भविष्य है – यानी "लाल आकाश"। मेरी आँखें बाईं तरफ के निचले हिस्से से शुरू होते हुए दाईं तरफ के ऊपरी हिस्से की ओर जाती हैं। इस फ्रेम में दाईं ओर जिस एक जगह पर लाल और काला मिलते हैं वो बहुत ही छोटा है। पर यह मिलने का बिन्दु है और इसीलिए यह बहुत अहम हो गया है। काले रंग के बहते-से स्ट्रोक्स सफेद हिस्से पर मज़बूत और ज़बर्दस्त हलचल पैदा कर रहे हैं। चित्र में निगेटिव सफेद जगह का बहुत खूबसूरती से सन्तुलन बैठाया है और देखनेवालों को यह अवकाश मिलता है कि वो चरम पर (यहाँ इसे "क्रान्ति" कहेंगे) पर पहुँचने से पहले कुछ देर थम लें, आराम कर लें...

– पार्थिव शाह

*फिल्मकार, डिज़ाइनर, फोटोग्राफर*

यह सफेद कागज़ पर बना
कोई काला-लाल कम्पोज़ीशन नहीं है...
बिलकुल नहीं...
पक्के तौर पर यह काले-सफेद-लाल रंग का
एक ज़बरदस्त कम्पोज़ीशन है।
सही मायने में कला यही है।

आरव, चार साल, भोपाल

# काले-सफेद और लाल में कम्पोज़िशन

**हमारे** सामने अमूर्त्त कला का एक अनूठा उदाहरण है। आरव साढ़े तीन साल का था जब उसने इसे रचा। चलो कुछ देर के लिए उसकी उम्र को भूलकर इस पेंटिंग को देखते हैं। मैं यहाँ वो कहने की कोशिश करूँगा जिसने मेरा ध्यान सबसे ज़्यादा खींचा। काले, सफेद और लाल रंगवाले इस कम्पोज़ीशन में रचनात्मक ऊर्जा कहाँ से पैदा हो रही है!

इस चित्र से मन में आज़ादी का ज़बर्दस्त भाव जगता है – एकदम खुले हाथ से पूरे कागज़ को रंगने और स्ट्रोक लगाने की आज़ादी। काले-लाल रंग के स्ट्रोक्स और बॉर्डर के बीच में से कहीं-कहीं सफेद रंग चमक रहा है। इससे एहसास होता है कि कितने खुले मन से उसने इसे पेंट किया है। काले-लाल रंग को जिस तरह इस्तेमाल किया है उससे बीच का सफेद हिस्सा बचा रह गया है। इससे वह हिस्सा एक बेहद सक्रिय भूमिका पा गया है। यह सफेद कागज़ पर बना कोई काला-लाल कम्पोज़ीशन नहीं है...बिलकुल नहीं...पक्के तौर पर यह काले-सफेद-लाल रंग का एक ज़बर्दस्त कम्पोज़ीशन है।

चित्र का एक दूसरा अद्भुत पहलू है – बाईं तरफ के सफेद हिस्से का कागज़ की किनार पर खुलना। यह पेंटिंग से बाहरी दुनिया में जाती एक पगडण्डी है। इसने पूरी रचना में एक खुलापन ला दिया है। अगर यहाँ भी लाल या काला सफेद को घेरे रहता तो यह कम्पोज़ीशन बहुत अलग होता – बहुत बन्द-बन्द-सा।

लाल रंगवाले हिस्से इस कम्पोज़ीशन को एक गहरा भाव दे रहे हैं। इस रंग का इस्तेमाल जिन जगहों पर और जिस मात्रा में हुआ है उससे बेहतर कुछ और नहीं हो सकता था। इससे ज़रा भी ज़्यादा होता तो पूरे कम्पोज़ीशन पर वो हावी हो जाता।

काला यहाँ कुछ दूरी बनाए हुए है। पेंटिंग के नीचे की तरफ दाईं ओर यह लम्बाई में फैला है। इसके ऊपर बीच में बने तेज़, खुले स्ट्रोक्स गति का एहसास दे रहे हैं। कुल मिलाकर कह सकते हैं कि रंग का खुला, बेहिचक इस्तेमाल इसे काबिले गौर, अर्थपूर्ण गति दे रहा है।

आज़ादी, खुलापन और गति इस पेंटिंग की ज़बर्दस्त खासियतें हैं। इन्हीं ने इसे इतना गहन कम्पोज़ीशन बनाया है जो बहुत कुछ व्यक्त कर रहा है। सही मायने में कला यही है।

साढ़े तीन साल की उम्र और ऐसी चित्रकारी? क्या सम्भव है? कोई कह सकता है हाथ कंगन को आरसी क्या! सबूत हमारे सामने है। पर मुझे लगता है यह सवाल और गहराई में जाने की माँग कर रहा है। कोई कह सकता है कि जिस तरह मैंने इस चित्र की खासियतें गिनाई हैं वो इतने छोटे बच्चे की कला-चेतन के बूते के बाहर की चीज़ है।

हो सकता है कि मैं रंगों के जिस बेहिचक और खुले इस्तेमाल की बात कर रहा हूँ उसकी व्याख्या इस बात से हो सकती है कि इस उम्र के बच्चे के पास जो सीमित मोटर स्किल्स होते हैं उनसे ऐसा आसानी से किया जा सकता है। बेशक हो सकता है। पर मैं यहाँ अचेतन मंशा की सम्भावना को खुला रखना चाहता हूँ। इसे हम सहजता और समरूपता की ओर अचेतन झुकाव कह सकते हैं। हो सकता है इसी के चलते आरव यह पेंटिंग बना पाया हो!

वैसे यह सही है कि ऐसी आज़ाद और बेरोक अभिव्यक्ति इस उम्र का कोई भी बच्चा कर सकता है। यह स्कूली शिक्षा की नाकामी है कि वो सहज-स्वाभिकता और खुलेपन का गला घोंट देती है। बच्चे पर दबाव रहता है कि वो सामाजिक रूप से स्वीकार्य व्यवहारों पर ही चले। जिससे शुरुआती सालों में खुले और भावपूर्ण चित्र बनाने के बाद बच्चे गैरकल्पनाशील, एकदम सटीक, अलोचदार और रूखे चित्र बनाने के फेर में फँस जाते हैं। मुझे नहीं लगता ऐसे चित्र किसी को भी आकर्षित करते होंगे। अकसर यह बच्चे में कला का खत्म होना होता है। कुछ ही बच्चे होंगे जो बाद की उम्र में इन बन्धनों से खुद को निकाल पाते होंगे और फिर से अपनी वही स्वतंत्र अभिव्यक्ति पाते होंगे।

आरव की अभिव्यक्ति किसी भी आज़ाद, सृजनशील कलाकार के काम के बेहद करीब है। यह देखना सचमुच एक अद्भुत अनुभव है...

– ल्यूक व्रिसविक
*डच फिल्मकार, मानवविज्ञानी*

**आठवीं** कक्षा में पढ़ रही अबीर ने शहरी भूदृश्य का रोचक चित्र बनाया है। यह आड़ी आयताकार कृति है। चित्र की पृष्ठभूमि कहीं हलके तो कहीं घने भूरे रंग से बनी है। शायद रात का दृश्य है! दिन होता तो पृष्ठभूमि शायद हलके रंग की होती। काले रंग की एक आड़ी रेखा द्वारा चित्र दो आड़े हिस्सों में विभाजित किया है। ऊपर के हिस्से में बहुमंज़िला मकान, बिजली का खम्भा है। नीचे के हिस्से में शायद रास्ता और उसके ऊपर एक पुल है।

इस चित्र में रंगों की किफायत और उनका चयन ध्यानाकर्षण का मुख्य कारण है। संरचना भी सन्तुलित है। सभी ठोस आकारों को स्पष्ट करने के लिए काले रंग की बाहरी रेखाएँ हैं। मकान और रास्ते को पीले और केसरी रंगों के चप्पों से भर दिया है। मकानों की खिड़कियों से जैसे भीतर की रोशनी दिखाई दे रही है। मकानों के बीच की खाली जगहों में खींची गई पीली रेखाएँ बहुत ही सहज हैं। वे परस्पर कटती हैं। केसरी रंग की छोटी-छोटी रेखाएँ भी एक-दूसरे को काटती हुई चौकोर आकृतियाँ बनाती हुई पृष्ठभूमि पर बिखरी हुई हैं। केसरिया रंग का प्रयोग दृश्य को जीवन्त बना देता है। बिजली के खम्भे पर भी पीली और केसरिया लाइटें लगी हैं।

चित्र के नीचे के हिस्से में आड़ी और खड़ी पीले और केसरी रंग की रेखाएँ हैं। मानो सड़क पर दौड़ रही गाड़ियों की बत्तियों से रोशनी की लकीरें बनी हैं। ये रेखाएँ भी काली बाहरी रेखाओं के बीच में व्यवस्थित रूप से चित्रित हैं।

बाहर-तेरह साल के बच्चों की चित्रकला में प्रायः परिचित वस्तुओं, दृश्यों और व्यक्तियों का चित्रण पाया जाता है। इनमें ज़मीन, आकाश और पानी में विचरते पशु-पक्षी एवं जीव-जन्तु भी शामिल होते हैं। अबीर ने शायद रात के समय बहुमंज़िला मकानों में जगमगाती बत्तियाँ देखी हैं। दौड़ती हुई गाड़ियों से बनती रोशनी की लकीरें देखी हैं। ये सारे दृश्य अबीर की अनुभूति की प्रक्रिया से गुज़रकर इस चित्र में अभिव्यक्त हुए हैं।

– वर्षा दास

*सुपरिचित लेखक, कला समीक्षक*

जैसे दिवाली में रोशनी से होली खेली गई और नीरस शहरी नज़ारा सपनों की दुनिया में तब्दील हो गया है।

# अबीर का शहरी लैण्डस्केप (भूदृश्य)

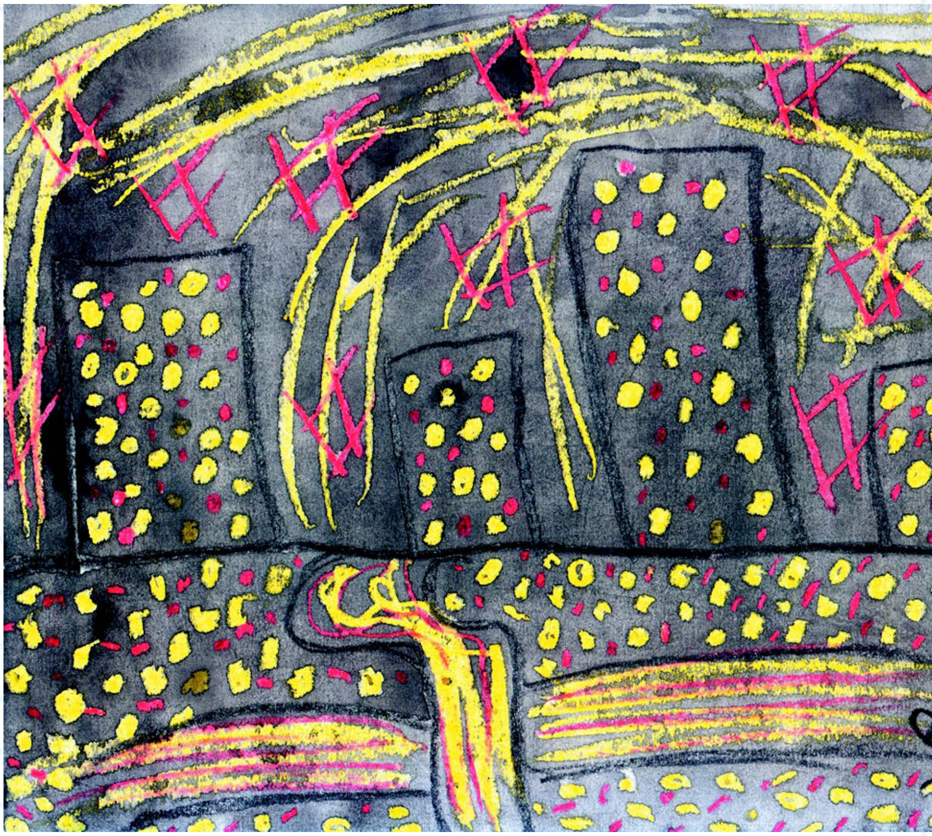

अबीर, आठवीं, भोपाल

**इतने** सारे चित्रों के बीच से एक को चुनना नामुमकिन-सा था। तो मैंने अपनी आँखों को यूँ ही तस्वीरों पर फिरने दिया और वो आकर थमीं अबीर की इस पेंटिंग पर। मेरे ख्याल से अबीर सात साल का है। और उसका चित्र मुझे कहता है कि वो सीधा-सादा दो-टूक कहनेवाला बच्चा है। ऊर्जा, उत्साह से भरा-पूरा, और एकाग्र भी। शायद वो किसी शहर में रहता है और उसी शहरी वातावरण को उसने रंगने की कोशिश की है – रात में शहर। पेंटिंग का गठन सादा और स्पष्ट है। पूरा चित्र दो आड़े भागों में बँटा है। फिर इन दो भागों को इमारतों, सड़क, बिजली के खम्भों आदि से खड़े में बाँटा गया है। निश्चित ही यहाँ उत्सव का-सा माहौल है। हालाँकि बहुत कम रंगों का प्रयोग किया है लेकिन छिटके हुए बिन्दुओं और रेखाओं के लिए दो गुनगुने रंग – पीला और लाल – मन पर चेतना जगाने-सा असर छोड़ते हैं। आकाश पर बहते हुए बेपरवाह पीले पर सजे लाल हीरे दिवाली की रात का भ्रम देते हैं। यह मिक्स मीडिया में किया काम है। अबीर ने तैलीय मोम (ऑयल पेस्टल) रंग और वॉटर कलर जैसे दो विपरीत माध्यमों को बहुत इत्मीनान से सम्भाला है। ऑयल पेस्टल की चटक रेखाओं के ऊपर काले-ग्रे रंग को पोत दिया गया है। इससे नीरस शहरी नज़ारा सपनों की दुनिया में तब्दील हो गया है। हालाँकि बच्चे ऐसा सब यूँ ही सहज-बुद्धि से कर देते हैं। इस सहज-बुद्धि को डिकोड कर समझ बनाना बड़े होने की प्रक्रिया है।

– शुद्धसत्व बसु

*सुप्रसिद्ध चित्रकार, लेखक, फिल्मकार*

या दिवाली की रात...

**बहुत** सारे बिन्दु और कुछ लकीरें! यह चित्र मुझे कुछ अनोखा लगा। चित्र को एक बार देखकर इसे समझ पाना थोड़ा मुश्किल हो सकता है। लेकिन थोड़ी देर तक ध्यान से देखने पर यह बहुत ही सरल लगने लगता है।

चित्र में दिवाली की एक रात को दर्शाया गया है। आमतौर पर बच्चों के चित्रों में पहाड़, नदी, पेड़, फूल-पत्ते, चिड़िया, तितली, पतंग या बादल ही प्रमुख विषय होते हैं। शायद इसीलिए इस चित्र को देखकर अनायास पता नहीं चल पाता कि इसकी विषयवस्तु क्या है!

असल में जब हम बच्चों के चित्रों को देखते हैं तो पहले से ही एक सोच हमारे दिमाग में बनी रहती है। और यह उम्मीद रहती है कि हम किसी ऐसे चित्र को देखेंगे जो "सरल" हो, सुन्दर भी हो और अच्छा भी लगे। परन्तु सरल, सुन्दर और अच्छे चित्र का ठीक होना न होना हमारे व्यक्तिगत विकास पर भी निर्भर करता है। बड़ों की सोच किस हद तक बच्चों के चित्र को ठीक से समझ पाने में सफल रहती है यह प्रश्न बना ही रहता है।

दीपावली के इस चित्र को बच्चे ने बहुत ही भिन्न रूप से चित्रित किया है। पूरे चित्र को, कहीं पीले तो कहीं लाल बिन्दुओं और लकीरों से सजाया गया है। वास्तव में ये बिन्दु दूर से दिख रही दिवाली की जगमगाती रोशनियाँ हैं। ऊँचे-ऊँचे घरों को जिन दियों और लड़ियों से सजाया गया है यह उन्हीं की रोशनी है। गीली सड़कों पर रोशनियों की छाया पड़ रही है, आकाश में आतिशबाज़ी की रोशनी को टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों से दर्शाया है। इन्हें देखकर ऐसा लगता है जैसे दिवाली में रोशनी से होली खेली गई हो और रोशनी की खुशियों को जताया गया हो।

बच्चे ने अपनी भावनाओं को कल्पना से जोड़ दिया है और निश्छल व निश्चिन्त भाव से चित्र को पूरा किया है। यहाँ तक कि सम्पूर्णता (Perfection) के विषय में भी नहीं सोचा।

हम बड़ों को समझना चाहिए कि एक अच्छे चित्र में निपुणता ही सब कुछ नहीं होती बल्कि एक स्वतंत्र, अनोखी सोच का होना ज़्यादा ज़रूरी होता है। और यही सोच एक सुन्दर चित्र को रचती है।

– तापोशी घोषाल

*सुप्रसिद्ध चित्रकार*

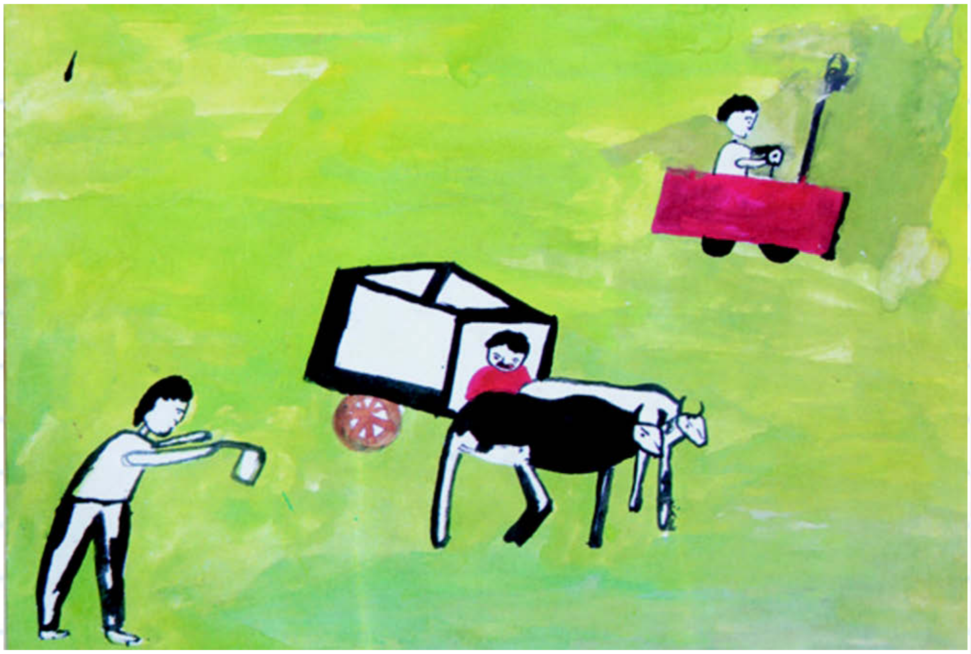

**बच्चों** द्वारा बनाए चित्रों पर लिखना सबसे बड़ा और कठिन काम होता है। क्योंकि बच्चे की कल्पना में जो अबोधता होती है, वह कला ही नहीं, हमारी समझ से बाहर जाकर खड़ी हो जाती है। उनके चित्र गढ़ने में ऐसे-ऐसे तर्क उनकी इमदाद करने के लिए आ जाते हैं, जिनकी शिनाख्त ही मुश्किल होती है। पहली बात तो यह कि उनके लिए अकसर कागज़-कैनवास छोटे होते हैं। वे एक निश्चित सीमा की घोषणा करते हैं – और एक बच्चे के लिए यह सीमा बहुत बन्धनकारी होती है। बच्चे सहज रूप से अपनी कला की अभिव्यक्ति और कलाकर्म के लिए दीवार चुनते हैं। जब मैं बच्चे के द्वारा बनाए गए किसी चित्र को देखता हूँ तो हमेशा सोचता हूँ, जैसे वह किसी अज्ञात धमकी के तहत किया गया काम है। कई बार इसी कारण उनके चित्रों में आकृतियाँ, कागज़ के कोने में चित्रित होती हैं और शेष कागज़ को छोड़ देते हैं।

उदाहरण के लिए हम दीप्ति के चित्र को लें। इसमें उसी अबोध कला दृष्टि की वह खूबसूरती बरामद होती है, जिसमें उस बाल चित्रकार की नज़र से आकृतियाँ त्रुटिहीन बनाई गई हैं। घास के मैदान में एक बैलगाड़ी है, जिसमें एक बैल सफेद है और दूसरा चितकबरा। उसके तीन पैर ही दिखाई देते हैं। यदि हम चित्रकार को इसकी इस त्रुटि के बारे में कुछ इंगित करते तो निश्चय ही उधर से यही उत्तर आता कि उसका एक पाँव सामनेवाले के पीछे छुपा हुआ है। गाड़ी को पहिया भी एक ही है और उसी तर्क के सहारे दूसरा है और बाकायदा घूम रहा है – गाड़ी उलाल नहीं होती है। बैलों को नाथकर घेरनेवाली रास, जिसे रस्सी कहते हैं, नदारद है। और गाड़ी ठीक उसी दिशा की तरफ अचूक ढंग से जानी है, जिधर चित्रकार भेज रहा है। दूर ट्रैक्टर है। ट्रैक्टर चालक और गाड़ीवान की आकृति में, आकार में घट-बढ़ भी नहीं बनाई गई है। क्योंकि जब वह गाड़ीवान को बनाता रहा था, तब उसी मनोयोग और एकाग्रता से ट्रैक्टर ड्राइवर के चित्रण में भी तन्मय था। उसे अपने हिसाब से वह विश्वसनीय बना रहा है। चित्र में दो जगह लाल रंग का जो प्रयोग किया गया है, वह एक तरह से लिखा गया लाल रंग है इसलिए उसमें कोई ग्रेडेशन की आवश्यकता भी नहीं है। रंग का वहाँ होना ही प्रमाण है। मुझे बाकायदा लगता है कि यदि उस बाल चित्रकार से पूछा जाता कि यह मैदान कितना होना चाहिए था तो वह कहता – कागज़ कम था। यह फलक के अपर्याप्त होने और उनकी ओर संकेत भी है। वह पर्सपेक्टिव से मुक्त भी है। क्योंकि, जब वह गाड़ीवान को चित्रित कर रहा था तो गाड़ीवान के पास ही था। और जब ट्रैक्टर ड्राइवर को चित्रित कर रहा था तो ट्रैक्टर के पास। उसको दो आकृतियों की आपसी दूरियों की चिन्ता नहीं है। स्वयं की चित्रित करने की निकटता ही उसके लिए प्राथमिक और अन्तिम रूप से थी। इस चित्र में चमत्कार की तरह यह दर्ज है कि चित्र किस जगह से देखकर या खड़े रहकर बनाया गया है।

यह चित्र लाल और हरे के बीच एक हरे की अपनी तरह से विराट उपस्थिति को बहुत मनोहारी ढंग से रखता है।

– प्रभु जोशी

*प्रसिद्ध लेखक व चित्रकार*

दीप्ती नाहर, 11वर्ष, भोपाल, मध्य प्रदेश
अक्टूबर 1988 में प्रकाशित

*सरल रेखा में एक पूरे पेड़ काअनुभव*
*- जोगेन चौधरी*

**देवास** के चेतन ने एक बहुत ही इकहरा पेड़ बनाया है जिसके नीचे दो लोग बैठे हैं। फिर उसने पूरे में ग्रे रंग पोत दिया है – पेड़ के तने जैसे कुछ हिस्सों को बड़े ख्याल से छोड़ते हुए। उसने इस पूरी जमावट (कम्पोज़ीशन) को बहुत दमदार बना दिया है – हाँ, ऐसा करते हुए उसने लकीरों की मस्ती को ज़रा कम होने नहीं दिया। नीचे के हिस्सों में काफी हद तक सन्तुलन बना हुआ है लेकिन पेड़ में नहीं। एक लकीर चलती रही, चलती रही और देखो कितना कुछ बनता गया – पूरा पेड़, शाखें, टहनियाँ, फल, पत्तियाँ। सब। एक महान स्विस-जर्मन कलाकार हुए हैं – पॉल क्ली। उन्होंने एक बार लिखा था कि एक लकीर असल में एक बिन्दु है जो लम्बे सैर पर निकल गया है। और यहाँ चेतन की लकीर है जो नाचने में रम गई है! लकीर का जो खुद पर भरोसा यहाँ दिख रहा है उसे पाने में कई बड़े कलाकार अपनी ज़िन्दगी के कितने साल खपा देते हैं – जाने कितने अनुभवों, आज़माइशों के बाद यह जादू हासिल कर पाते हैं। अपने को और स्पष्ट करने के लिए मैं यहाँ जोगेन चौधरी का चित्र दे रहा हूँ। एक सरल रेखा में कितनी ऊर्जा, कितनी कुव्वत होती है कि वो एक पूरे पेड़ के अनुभव को साकार कर देती है! यह बात एक करिश्मे की तरह लगती है। इस चीज़ ने कई स्थापित कलाकारों को ऐसा अचम्भित किया कि वो नए सिरे से बच्चों से सीखने में दिलचस्पी रखने लगे। मुझे पेड़ के नीचे बैठे लोगों के भाव बड़े मज़ेदार लगे। क्या वे बच्चे हैं? शायद। बच्चों की चित्रकला की एक खासियत यह होती है कि वे खुद की चेतना को परे रखकर किसी चीज़ के असल को या मूलभाव को पकड़ लेते हैं। छोटे बच्चों में यह ज़्यादा दिखाई पड़ता है जिन्हें अब तक “सही तरीके से” चित्र बनाना और रंग भरना सिखाया नहीं गया होता है। इस पूरे चित्र की तासीर में एक खुशी है – दो लोगों और एक पेड़ के बीच बीत रहे कुछ खुशगवार पल हैं। और कमाल देखिए कि यह खुशी छिटककर हम देखनेवालों के हिस्से भी चली आती है...

– इन्द्रप्रॉमित रॉय

चेतन, पहली,
कन्नोद, देवास, मध्य प्रदेश
दिसम्बर 1990 में प्रकाशित

मितेश धुन्देरा, नवीं,
भावनगर, गुजरात
अप्रैल 1996 में चकमक में प्रकाशित

# रेलगाड़ी तीन चित्र, कई नज़र

**जब** सम्पादक जी ने मेरे सामने दर्जनों चित्रों को फैलाकर कुछ को चुनने को कहा तो मैं इन दो चित्रों की ओर आकृष्ट हुआ। ये अपने आप में बहुत प्रभावी और ध्यान खींचनेवाले तो हैं ही लेकिन इन्हें चुनने का एक और कारण भी था। दोनों एक ही विषय पर हैं – पर हैं कितने अलग। एक मशीन से मानव के सम्बन्धों को कितनी तरह से देखा जा सकता है!

शायद ही कोई बच्चा होगा जो सब कुछ भूलकर दूर जानेवाली रेलगाड़ी को अचम्भित-सा नहीं देखता होगा। सत्यजीत राय की महान फिल्म *पाथेर पांचाली* में बच्चों द्वारा रेलगाड़ी देखने का एक सम्मोहक और अविस्मरणीय चित्रण है।

रेलगाड़ी में ऐसी क्या बात है! मनुष्य के सबसे महत्वपूर्ण सृजनों में इसे गिना जा सकता है। एक तरह से यह आधुनिक युग के मनुष्य की ताकत और गति का प्रतीक भी है जो उस मनुष्य से अलग होकर, उसी के समक्ष दिखता है। आज भी जब मैं प्लेटफॉर्म में इंजिन को धीरे मगर गम्भीरता से एन्ट्री लेते देखता हूँ या फिर कहीं पटरी पर बहुत तेज़ दौड़ती रेलगाड़ी को देखता हूँ तो क्षण भर के लिए जैसे साँस रुक ही जाती है।

लेकिन आधुनिक मानव खासकर भारतीयों के रेलगाड़ी से कुछ ज़्यादा आत्मीय रिश्ते हैं। यह हमारे धर्म, संस्कृति, राजनैतिक आन्दोलन आदि का अभिन्न भाग तो बन गई, साथ ही अपनों से मिलने, परायों से परिचय बनाने तथा एक दूसरे से लड़ने-झगड़ने का साधन भी है। रेलकर्मियों का जीवनयापन रेल से चलता है, मगर अनगिनत लोग अनौपचारिक रूप से अपना जीवनयापन रेलगाड़ियों में करते हैं। शायद ऐसा दुनिया में कहीं नहीं होगा। ये दोनों चित्र उस बहुआयामी रिश्ते को किस तरह से दर्शाते हैं, इस पर गौर करते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि कम से कम तीन घण्टे तक किसी चित्र को निहारने के बाद ही उस पर कुछ कहा जा सकता है। तभी वह हमारे मानस पटल पर उन गहरे विचारों को उत्पन्न करता है जो उसमें सम्भावनाओं के रूप में मौजूद हैं।

पहले चित्र में रेलगाड़ी दर्शक की ओर आ रही है और पूरे चित्र को दाएँ और बाएँ हिस्सों में लगभग बराबर बाँटती है। इसके रंग दबे हुए गेरु हैं – शायद यह उस समय की बात है जब भारतीय रेल की गाड़ियाँ नीले रंग से नहीं पुती होती थीं। एक तरह से यह इस मशीन की ताकत पर एक परदा-सा डालकर रेखांकित करता है। रेल प्लेटफॉर्म से शायद जा रही है। ड्राइवर साहब (आजकल लोको पायलट कहते हैं) झण्डी दिखा रहे हैं। कई सारे लोग अपने प्रियजनों को टाटा कह रहे हैं। कुछ शायद अपने सामान के साथ अगली गाड़ी का इन्तज़ार कर रहे हैं। एक कुली भी है जो सिर पर और हाथ में सामान उठाए खड़ा है। दो लोग हैं – एक बैठा है और दूसरा पेपर पढ़ रहा है। ये रेलवे स्टेशन पर आराम करते नज़र आनेवाले लोगों की जमात से हैं। पूरे चित्र में एक धीमी गति का आभास मिलता है। एक चित्र में इस तरह से धीमी गति का आभास दिलाना कोई आसान काम नहीं है। यह सब रेलगाड़ी की दाहिनी ओर हो रहा है। बाईं ओर के आधे हिस्से में खाली रेल पटरी दिख रही है। रेल पटरी के पास का प्लेटफॉर्म है ही नहीं – शायद यह किसी बहुत छोटे कस्बे या गाँव का स्टेशन है। लेकिन चित्रकार ने उस हिस्से को खाली नहीं छोड़ा है। वहाँ एक महिला सिर पर घड़ा उठाए जा रही है। शायद उसने इसे स्टेशन से भरा होगा। ध्यान रहे कि वह इस चित्र की एकमात्र महिला है। यह भी पूरे चित्र की धीमी गति को सुदृढ़ करता है। यह दृश्य रेल, स्टेशन और आसपास के लोगों के रिश्ते का खुलासा करता है।

इस चित्र को देखकर लगता नहीं है कि इसे चित्रकार ने घर पर बैठकर कभी देखे हुए दृश्य को याद कर-करके बनाया होगा। लगता है जैसे रेल की पटरी के ऊपर किसी पैदल पुल पर खड़े होकर इसे बनाया होगा। इसीलिए हमें रेल का ऊपरी हिस्सा, प्लेटफॉर्म की ज़िग-जैग पैटर्नवाली छत और उसे सहारा देते लोहे के खूबसूरत अर्धगोलाकार दिख जाते हैं। छत को उठाए हुए खम्भा भी पूरा दिख रहा है। एक तरह से यह इस चित्र की धुरी की तरह काम कर रहा है। पूरा चित्र इसी के इर्द-गिर्द समायोजित है। चित्र में रेल की भावना को उभारने के लिए कई युक्तियाँ अपनाई गई हैं। इनमें से एक है – कई सारी समानान्तर लकीरें। गौर करोगे तो और भी ऐसी युक्तियाँ दिखेंगी।

इस चित्र की एक खासियत यह है कि इसमें बहुत सारी बारीकियाँ भरी हैं। वास्तविकता को दर्शाने की यह एक खास कोशिश है। इसमें इस वास्तविकता को महिमामण्डित करने या कल्पना से किसी पक्ष को उभारने की कोई कोशिश नहीं है।

कला के इतिहासकार मुख्य रूप से दो तरह की कलाओं की बात करते हैं – छापवादी और अभिव्यक्तिवादी (Impressionism and Expressionism)। छापवादी कला में किसी यथार्थ को जैसा वह कलाकार को प्रभावित करता है, वैसा ही चित्रित किया जाता है। अभिव्यक्तिवादी कला में अपने मन की बात को, अपनी कल्पनाओं को और विचारों को चित्रित किया जाता है। दूसरे चित्र को हम इस श्रेणी में रख सकते हैं। चलो उसे भी गौर से देखें।

दूसरे चित्र में जो चीज़ सबसे पहले प्रभावित करती है वह है रंगों का विस्फोट - लाल, पीला, नीला, जामुनी, सिन्दूरी, काला...।

**दूसरा** चित्र कई मायनों में पहले से विपरीत लगता है। चटक रंग, रेल की दिशा आदि। लेकिन कई मायनों में दोनों में महत्वपूर्ण समानताएँ भी हैं। एक समानता जिसने मुझे सबसे ज़्यादा प्रभावित किया वह है दोनों चित्रों में मनुष्य और रेल के रिश्ते के विभिन्न आयामों को उभारा जाना। इस चित्र में एक बहुत ही संक्षिप्त युक्ति के माध्यम से कई लोगों को रेल के अद्भुत दृश्य के दर्शकों के रूप में चित्र के एकदम नीचे दिखाया गया है। हमें सिर्फ उनके सिर (और वह भी पीछे से) दिख रहे हैं। उनकी प्रतिक्रियाएँ हमसे छिपी हैं। पर शायद कलाकार ने यह मान लिया है कि हम भी उन दर्शकों के बीच खड़े हैं और हमारी प्रतिक्रिया ही उनकी भी प्रतिक्रिया होगी। *पाथेर पांचाली* में भी कुछ इसी तरह के बच्चों को रेलगाड़ी को देखते हुए दिखाया गया है। इस चित्र और *पाथेर पांचाली* के उस प्रसिद्ध शॉट में काफी समानताएँ देखी जा सकती हैं।

पेज 40 पर भी

पुनीत सिंह, भोपाल, मध्य प्रदेश
फरवरी 1989 में चकमक में प्रकाशित

दोनों में एक और समानता है और जो सम्भवतः भारतीय कला दृष्टि का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है, वह है – बिन्दु को केन्द्रीय स्थान दिया जाना। पहले चित्र में बिन्दु रेल की हैडलाईट के रूप में उभरता है (चित्र के लगभग केन्द्र में) और दूसरे में सूरज। यह भी चित्र के ठीक केन्द्र में बना हुआ है। पहले चित्र में उस केन्द्रीय बिन्दु से संवाद करते हुए कई और भी बिन्दु हैं, और दूसरे में सूरज को कॉन्ट्रास्ट करने के लिए नीचे चार काले सिर बने हुए हैं।

दूसरे चित्र में जो चीज़ सबसे पहले प्रभावित करती है वह है रंगों का विस्फोट – लाल, पीला, नीला, जामुनी, सिन्दूरी, काला...। चूँकि पीछे पीला रंग है और ज़मीन लाल रंग में है रंगों का यह बिखराव एक घटना का-सा आभास देता है। सूरज बादलों के बीच से निकलकर रंग बिखेर रहा है, मानो वह रेल की गति, सीटी की आवाज़, धुएँ के बहाव... से प्रेरित होकर खुद भी इस खेल में शामिल होना चाहता है।

मैंने ऊपर कहा था कि यह चित्र मनुष्य और रेल के रिश्ते को दर्शाता है – मुझे इस कथन को कुछ बदलना होगा। यह चित्र प्रकृति, मशीन और मनुष्य के आपसी सम्बन्ध – एक वांछनीय सम्बन्ध – की कल्पना करता है। इसमें मशीन अपनी ताकत और गति के कारण प्रकृति का ही हिस्सा बनने जा रही है। मनुष्य अचम्भित दर्शक के रूप में खड़ा है।

पहले चित्र के उलट इसमें रेल दर्शक (या मनुष्य) के पास नहीं आ रही है, बल्कि उससे दूर अपने ही रास्ते पर जा रही है। एक तरह से वह हरियाली, बादल, आसमान, सूरज की रंगीन दुनिया में घुलती हुई, उनके रंग में रंगती हुई बढ़ रही है। दर्शक और इस दृश्य के बीच लाल मैदान है जो उन्हें अलग करता है। सारा रंग रेल पटरी के उस पार है। मनुष्य की दुनिया एक तरह का वीरान मैदान मात्र है।

ज़ाहिर है कि यह चित्र किसी हकीकत को नहीं दिखा रहा है बल्कि चित्रकार के मन की गहराइयों में छिपी भावनाओं को व्यक्त कर रहा है। इसलिए इस में इस बात का प्रयास भी नहीं है कि वह एक वास्तविक रेलगाड़ी जैसी दिखे। इसमें जानबूझकर रेल के डिब्बों को इतना रंगीन बनाया गया है।

ढाँचागत दृष्टि से चित्र में कई युक्तियाँ अपनाई गई हैं जो उल्लेखनीय हैं। पहली तो यह कि इसमें लकीरें पहली तस्वीर के विपरीत खड़ी न होकर आड़ी हैं (ऊपर से नीचे नहीं बल्कि बाएँ से दाएँ)। रेल पटरी चित्र को लगभग दो समान भागों में बाँटती है, फिर भी हमारा ध्यान पहले ऊपरी भाग पर ही टिकता है। मानो नीचे का मानवीय भाग नगण्य है। सूरज के इर्द-गिर्द रंग के विस्फोट का आभास देने के लिए सम्केन्द्रित वृत्तों में रंगों को बिखरते हुए दिखाया गया है। सबसे पीछे पीला आसमान इस बात का द्योतक है कि यह सब एक अनन्त ब्रह्माण्ड और मानवी लोक के बीच घट रहा है। पेड़ों का हरा रंग कई जगह रेल के ऊपर फैल रहा है मानो रेल उसी दुनिया में घुली-मिली हुई है।

इन दो चित्रों में मैंने मनुष्य, उसके द्वारा निर्मित मशीन, प्रकृति और अनन्त के बीच के मार्मिक रिश्तों के विभिन्न आयामों को टटोलना देखा है। शायद तुमको कुछ और दिख जाए!

– सी एन सुब्रह्मण्यम

*सामाजिक विज्ञान शिक्षण पर काम। कलाओं में गहरी रुचि।*

**इस** पेंटिंग को देख अचानक मन में आया कि अगर देखने का तरीका सही हो तो गलतियाँ भी खूबसूरत हो सकती हैं। शायद कागज़ पर गिरे पानी ने रंगों को फैला दिया है। आँखों ने आधे चेहरे को ढँक रखा है और उँगलियाँ चौड़ी और लम्बी हैं। मुझे लगता है अगर किसी बड़े के साथ ऐसा हुआ होता तो पहले तो वो अपनी इस गलती पर जमकर शोक मनाता और फिर दुखी मन से उसे फाड़कर नए सिरे से चित्र बनाता। पर श्रेय ने ऐसा नहीं किया! मुझे यकीन है कि रंग फैलने से उसे ज़रा भी फर्क नहीं पड़ा होगा, और न ही दोनों हाथों में चार-चार उँगलियाँ होने से। उसने अनपेक्षित को खुले मन से स्वीकारा और देखो क्या अनूठा नतीजा निकला! धुँधली धुएँ-धुएँ-सी लकीरों से इस चित्र के साथ एक तिलिस्म-सा जुड़ गया है। खूबसूरत पनीली नीली रंगत देख मैं सोचने लगा कि क्या यह खुश-सुखी इंसान पूरी तरह रिलैक्स्ड है...और उसका छरहरा शरीर शान्त झील में तैर रहा है? या फिर मन उदास है फिर भी होंठों पर मुस्कराहट है?

– कैलिन बर्नी ओ डाउड

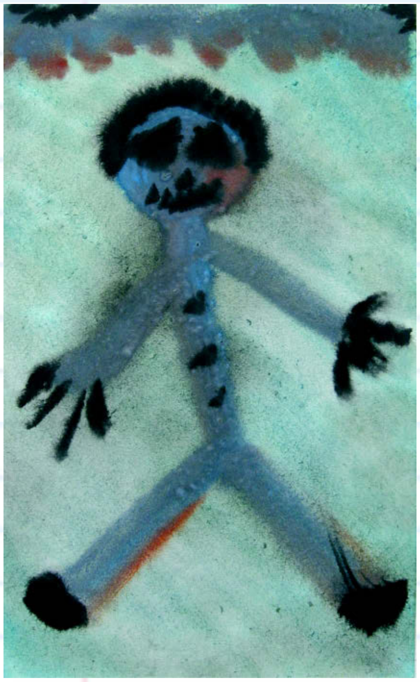

श्रेय भगनानी, सातवीं, भोपाल
मार्च 2014 में प्रकाशित

विशाल एन, सातवीं, भावनगर, गुजरात
फरवरी 1996 में चकमक में प्रकाशित

**यह** चित्र हमें सीधे ही रेलगाड़ी में लिए चला जाता है। उससे पहले का कोई आसपास इसमें नहीं है। देखनेवाले का पहला ही कदम रेलगाड़ी में पड़ता है। चित्रकार ने रेल का डिब्बा भी पूरा बनाने की ज़रूरत नहीं समझी है। उसके लिए डिब्बे का मतलब यह कूपा है। यही उसका संसार है। कूपे में एक खिड़की है। और दो पहिए हैं। इंजन को पूरा दिखाया गया है। पर तीसरे कूपे को पूरा दिखाने की ज़रूरत ही नहीं थी। और न ही शेष रेलगाड़ी को। यह कुछ कहकर बहुत सारा अनकहा छोड़ देने का हुनर है। एक बड़ा चित्रकार अकसर एक ही आकृति से एकाधिक चीज़ें दर्शाता है। यहाँ भी चित्रकार ने इंजन के ऊपर उठ रहे धुँए से ही बादल का भी काम ले लिया है। सोचिए, अगर दो कूपों के बीच खाली जगह न होती तो पहाड़ कैसे दिखते? चित्रकार जो बच्चा है उसके आकार के अनुपात में रेल का डिब्बा एक पहाड़ की ही तरह है। मुमकिन है इसी भाव से रेल के तीन डिब्बों के ठीक पीछे तीन पहाड़ खड़े किए गए हैं। वैसे इस चित्र में तीन की जुगलबन्दी कई बार है। कूपे तीन, पहाड़ तीन, यात्री तीन, खिड़कियाँ तीन, बादल तीन। क्या हमारे जीवन में यह तीन स्वाभाविक रूप से बिखरा है? जैसे, समय में कल, आज और कल से लेकर ........।

– देवीलाल पाटीदार

*मिट्टी के शिल्प बनाते हैं। कलाओं पर गहन चिन्तन।*

**चित्र** की कई विशेषताएँ हैं। सामान्य ढंग से देखने पर सबसे पहले चित्र का कम्पोज़ीशन अपनी ओर ध्यान खींचता है। स्पेस और आकार का संयोजन अच्छा बन पड़ा है। दूसरी बात चित्र के रंगों को लेकर कही जा सकती है। कम रंगों का प्रयोग किया गया जो चित्र को ग्राह्य बनाता है। मतलब रंग आँखों में चुभते नहीं बल्कि एक संयत छाप छोड़ते हैं।

चित्र में फैले हुए बड़े जीवन का चित्रण किया गया है। बस अड्डा तरह-तरह के लोगों और क्रियाकलापों का केन्द्र चित्रित हुआ है। इसमें क्रियाकलापों की अच्छी तथा बहुआयामी गति है। चित्रकार की कोशिश जीवन के सभी रंगों को समेटने की है। बच्चे और नौजवान प्रमुख हैं। ठेला-गाड़ी और घोड़ा-गाड़ी से लेकर बस तक; तमाम वाहन नज़र आते हैं। चित्र व्यापकता और समग्रता को समेटने का प्रयास करता है।

– असगर वजाहत

*सुप्रसिद्ध कथाकार, उपन्यासकार, नाटककार*

चित्र विवरण नहीं उपलब्ध है
नवम्बर 1985 में प्रकाशित

**अलग**-अलग कारणों से मैं बहुत खुश हूँ कि मैंने इतनी पेंटिंग्स के बीच में से इसे चुना। जब भी मैं इस चित्र को देखती कोई नया ही तत्व, इसमें प्रवेश करने का कोई नया ही रास्ता सामने आ जाता। खुद एक कलाकार होने के नाते मुझे अकसर उन चित्रों या कलाकृतियों को पढ़ना मुश्किल लगता है जिसमें प्रवेश के नए-नए रास्ते खुलते रहते हैं। अकसर सोचती हूँ कि हम वास्तविकता की नकल करने के फेर में इतने फँसे हुए हैं कि कला जो कल्पना के अन्तहीन आकाश में विचरने का हमें मौका देती है, उस ओर ध्यान ही नहीं देते। अमूमन बच्चे कल्पना को कला में उजागर करने में एकदम उस्ताद होते हैं। दुनिया की कई रोचक सूक्ष्मताओं, संवेदनाओं को वो ऐसे पकड़ लेते हैं जिनसे कम से कम हम वयस्कों का संसार तो डगमगा ही जाता है।

अगर इस चित्र का कोई रस्मी नाम होता तो वो – "एक बस स्टॉप" या "एक बस स्टॉप का नज़ारा" हो सकता था। पर मैं कहना चाहूँगी – "बस स्टॉप पर एक उजला दिन", "बड़ी हरी बस और रंगीन भीड़" या फिर "चलो इस हरी बस पर चढ़ें!" इन शीर्षकों को देने का कारण यह है कि यह चित्र यात्रा की अनुभूति देता है, भीड़ भरी यात्रा। आसपास की छोटी-छोटी दुकानें – चाय के ठेले, चाट भण्डार, पान की दुकान, नमकीन के ठेले और दूसरी रंगीन चीज़ देखनेवालों को जैसे बस स्टॉप का पूरा चक्कर लगा लाती हैं। और यह भी दिखा देती हैं कि पीछे पहाड़ हैं और धूप तेज़ है।

इस चित्र में रंगों का इस्तेमाल भी कमाल कर रहा है। और मेरे हिसाब से जो रंग सबसे ज़्यादा ध्यान खींच रहा है वो है सफेद। हालाँकि सफेद को यहाँ कागज़ पर लगाया नहीं गया है, वो तो खुद कागज़ का रंग है। लेकिन कागज़ का यह सफेद

# चलो इस हरी बस पर चढ़ें!

रंग उभरकर तब आया जब छोटी-छोटी रंगीन आकृतियाँ और वस्तुएँ उस सफेद पर बनाई गईं। मुझे लगता है जैसे यह बस स्टॉप बर्फ से ढँका हो। हरा, नीला, गुलाबी और लाल रंग भीड़ और वस्तुओं के बीच ऐसे संजोए गए हैं कि वो पूरे दृश्य को एक गति, एक लय, एक सूत्र में बाँध रहे हैं।

हरी बस, लाल सूरज और नीले पहाड़ ये तीन तत्व इस संयोजन (कम्पोज़ीशन) की जान हैं। मानव आकृतियाँ रंगीन और गतिमान हैं – कहीं खड़ी हैं, कहीं कुछ लेकर चल रही हैं, गाड़ी चला रही हैं आदि। जिस तरह इस चित्र का संयोजन उभरकर सामने आया उससे मैं बहुत प्रभावित हुई। बीच में खड़ी बस भीड़ को फ्रेम कर रही है और नीली पर्वतमालाएँ चित्र में सबसे ऊपर यही काम कर रही हैं। इस चित्र से मुझे वारली पेंटिंग्स का अन्तराल संयोजन भी याद आया और ऐसी ही एक वारली पेंटिंग मुझे मिल भी गई। इसे इस चित्र के साथ देखना दिलचस्प होगा। हालाँकि कई कारणों से ये दोनों बहुत अलग हैं। पर इनमें कुछ मज़ेदार समानताएँ भी हैं। इस पूरे दृश्य में त्रिकोणों से बनी मानव आकृतियाँ जिस तरह जगह पा रही हैं उससे पूरे कम्पोज़ीशन में एक समरसता, एक लय दिखाई दे रही है। "समुदाय" का बोध भी दोनों ही तस्वीरें दे रही हैं। वारली पेंटिंग में निकटता का बोध कराते नाचते लोग, बैलगाड़ियाँ, बस, हवाईजहाज़, पक्षी और पेड़ आदि का चित्रण कम से कम रेखाओं से किया गया है। भूरे कागज़ पर सफेद रेखाएँ हैं। जबकि बच्चे ने अपने चित्र में कई रंगों और कागज़ की सफेद जगह का इस्तेमाल किया है।

अन्त में मैं यही कहूँगी कि यह चित्र बस स्टॉप के एक दृश्य के अलावा भी बहुत कुछ कहता है। और यही चीज़ हर देखनेवाले को एक ज़बर्दस्त अनुभव देती है। मैं भी किसी दिन बर्फ से ढँके ऐसे ही किसी रंगीन बस स्टॉप पर जाना चाहूँगी!

– वास्वी ओझा

*चित्रकार*

# चित्र का व्याकरण

**चित्रों** की बात हो तो दो शब्द अकसर जगह पाते नज़र आते हैं – पर्सपेक्टिव और कम्पोज़ीशन। इन्हें थोड़ा तफसील से समझते हैं:

**पर्सपेक्टिव** – इसे हम हमेशा देखते हैं पर जानने में चूक हो जाती है। आगे-पीछे रखी हुई वस्तुओं को उसी तरह (क्रम में) देखना-दिखाना ही पर्सपेक्टिव है। हमारी आँखें हर दृश्य का पर्सपेक्टिव ही देख रही होती हैं।

तुम्हारे सामने एक-से कद के दो बच्चे खड़े हैं। यदि वे आगे-पीछे हो जाते हैं तो पीछे खड़े बच्चे का कद कुछ कम दिखाई देने लगता है। आगेवाला बच्चा जगह बदलकर पीछेवाले के पीछे चला जाए तो वह उससे भी छोटा दिखाई देने लगेगा। परस्पेक्टिव का अर्थ नहीं पता होने के बावजूद चित्र बनाते समय बच्चों को इसकी समझ ज़रूर रहती है। तभी तो एक पहाड़ जो बच्चे की तुलना में काफी ऊँचा होता है, उसे चित्रकार चित्र में बच्चे के पीछे छोटा ही बनाता है। इससे दूरी का भी पता चल जाता है। पृथ्वी से बड़ा सूरज यहाँ पहाड़ से भी छोटा हो जाता है क्योंकि वह बहुत-बहुत दूर है। पक्षी सूरज से थोड़े ही छोटे बनते हैं क्योंकि वे पास में हैं। पास-दूर और छोटे-बड़े का गणित हमारी आँखें अपने आप कर लेती हैं।

इस गणित का और अच्छा अभ्यास करने के लिए किसी गली के एक छोर से दूसरे तक का स्कैच करना सबसे अच्छा तरीका है। बाहर न जाना चाहो तो एक कोने में बैठकर अपने कमरे या घर का ही चित्र बनाओ। इस अभ्यास के दो फायदे हैं – पहला यह कि वस्तुओं का आकार, बीच की दूरी और एक-दूसरे से कोण का सम्बन्ध दिमाग में पक्का होने लगता है। दूसरा, पर्सपेक्टिव का नियम अपने आप समझ में आ जाता है। नियम यह कि कागज़ (या फ्रेम) की बाजुओं से कागज़ के मध्य बिन्दु को जोड़नेवाली सीधी रेखाओं के सहारे (चित्र में देखो) वस्तुएँ छोटी होती चली जाती हैं। जब वस्तुएँ इन रेखाओं को छोड़ देती हैं तो पर्सपेक्टिव बिगड़ जाता है।

**कम्पोज़ीशन** – कम्पोज़ीशन यानी चित्र में जो भी चीज़ें हैं उनकी व्यवस्थित और मन को भानेवाली जमावट। अच्छी जमावट में एक आकार खड़ा तो एक आड़ा होता है। एक गोल तो दूसरा त्रिकोण होता है। सभी चौकोन हों तो सब एक जैसे कपड़े पहने हुए लगेंगे। कुछ व्यवस्थित हों, कुछ शरारती हों तो अच्छा लगेगा। अगर सभी पास-पास ठसाठस भरे हों तो अच्छा नहीं लगेगा। कुछ खुलापन भी ज़रूरी है। मान लो कि एक परिवार का चित्र बनाना है। इन सभी को एक कतार में खड़ा कर दो तो कैसा लगेगा? अगर सब अपने स्वभाव के अनुसार खड़े हों तो क्या यह कम्पोज़ीशन मज़ेदार नहीं लगेगा? स्टिल लाइफ में दूसरा होता ही क्या है? बाज़ार से फल-सब्ज़ियाँ लाने बाद उन्हें यूँ ही पटक दो तो फैलारा है। जमाकर रखो तो खूबसूरत नज़ारा है। जितने अलग-अलग ढंग से जमावट करोगे तो चित्र में नयापन बढ़ेगा। जमावट जितनी नई होगी चित्र उतना ही अनोखा लगेगा।

केयूर त्रिवेदी,
भावनगर, गुजरात
अगस्त 2000 में प्रकाशित

**बारिश**। घनघोर बारिश। तेज़ तिरछी बौछारें। तेज़ चलती हवाएँ। ताड़ के पेड़ तक हवाओं के ज़ोर से मरोड़ खाते, झुकते। आसमान गहरे बादलों से भरा। रोशनी कम। खूब घने बादल। ऐसी बारिश जैसे सारा जमा जल आज ही गिरेगा। और धरती इन तेज़ बौछारों को लोकती, सोखती, उत्कंठा से ताकती। चारों तरफ जल के भँवर हैं। तेज़ गतियाँ। परिन्दे बौछारों में पंख फैलाए भीगते। या मगन मन नाचते। दो जन इस घनी बारिश में भी विचरते। शायद कुछ ओढ़े हुए। धूसर, कत्थई रंग। और पेड़ों के बीचों-बीच एक झोंपड़ी, पानी में भीगती। शायद लोग हों अन्दर। जीवन की अनेक हलचलों को एक साथ बटोरता यह चित्र हमें बेचैनी से भर देता है। ऊपर शायद कौंध है तड़ित की। अभी यह बारिश चलेगी। दूर-दूर तक। अभी हरा रंग आना बाकी है। जीवन अपने नवीकरण की तैयारी कर रहा है।

दोनों ही चित्र वर्षा ऋतु के हैं। एक में बारिश अभी थमी है। एक में धुआँधार जारी है। एक में हरा रंग है। कई तरह का हरापन। पका हरा। हरा होता हुआ पानी के रंग से तनु हरा। और पानी, ठहरे और बहते पानी के अलग-अलग रंग। और घरों के कुछ गेरुए से रंग। पेड़ों के ज्यामितिक आकार और रंग। और पेड़ों के नीचे की धरती के कुछ अलग से रंग।

दूसरे चित्र में नीचे, कत्थई, हलके बैंगनी रंग। कुछ भारी। और धारियाँ और विषम तल। पर कहीं भी काला, कुछ काला नहीं। रंग जो बारिश को मेरे करीब लाते हैं। खींचते। मुझे भी उस ओर ले चलते। मुझे ऐसा क्यों लगता है जैसे ये मेरे बचपन के संसार के चित्र हैं? खूब देर तक एकटक, एकाग्र देखे हुए संसार के तन्मयता भरे चित्र। धैर्य और लालसा से भरे।

वैसे तो सबसे ज़्यादा रंग बसन्त में फूटते हैं। बल्कि हर ऋतु के अपने कुछ खास अलग-अलग रंग हैं। लेकिन वर्षा में जो रंग मिलते हैं धरती, आकाश, पानी, हवा, पेड़ और घरों, घरों की भित्तियों के रंग वे केवल वर्षा के ही रंग हैं।

इन चित्रों को देखकर लगा कि मैंने कितने लम्बे अरसे से वर्षा ऋतु को देखा नहीं। मैं तो भूल ही गया था। शायद मेरे भीतर भी जल घट रहा है। एक बच्चे की देह में सबसे ज़्यादा जल होता है। एक बच्चा सबसे पहले और सबसे ज़्यादा जल की तरफ दौड़ता है। इस विपुल पृथ्वी पर पानी गिर रहा है और कोई अरुणाचल से तो कोई गुजरात से उसे देख रहा है, अपने-अपने घरों से। एक पर्वत के पास से। एक समुद्र के पास से।

पानी गिर रहा है। मैं भीग रहा हूँ। पानी अभी थमा है। मैं अपनी लटें सहेज रहा हूँ। जीवन बन रहा है। धारासार।

– अरुण कमल

# कृष्ण का अकेलापन

**कृष्ण** की कहानी में कृष्ण को या तो अपने मित्रों, गोपों, गाय चरानेवाले बालकों से घिरा बताया जाता है या फिर उन्हें गोपिकाओं के बीच चित्रित किया जाता है। जिस समय वे वृन्दावन में वास कर रहे थे, उनकी शायद ही कोई कथा होगी जिसमें उन्हें पूरी तरह अकेला बताया गया हो। यहाँ तक कि जब वे कालिया नाग से वृन्दावन के नागरिकों को बचाने के लिए यमुना के पानी में उतरते हैं, तब भी यमुना के किनारे सारे वृन्दावनवासी और कृष्ण के मित्र इकट्ठा हो जाते हैं। पानी के भीतर भी कृष्ण पूरी तरह अकेले नहीं होते। कालिया नाग को मारते समय कम-से-कम खुद कालिया नाग कृष्ण के साथ होता है। कृष्ण की कथाओं पर सूरदास और मीरा जैसे महान भक्तिकालीन कवियों ने तो लिखा ही है, इनके अलावा हमारे देश में कृष्ण की कथा से प्रेरित हज़ारों-लाखों की संख्या में कविताएँ लिखी गई हैं। अनेक तरह के नृत्य-रूप बनाए गए हैं और इसी तरह इसी कथा पर बहुत बड़ी संख्या में चित्रकला भी हुई है। इन लगभग सभी कलाओं में कृष्ण को कभी-भी पूरी तरह अकेला नहीं बताया गया है। उदाहरण के लिए, हम कथक नृत्य पर नज़र डाल सकते हैं। कथक में कृष्ण की अनेक शरारतें नाची जाती हैं। कहीं वे गोपियों की मटकी फोड़ रहे होते हैं, कहीं अपने दोस्त गोपों के साथ मिलकर माखन चुरा रहे होते हैं। कहीं वे अपने दोस्तों के साथ खेल रहे होते हैं। इसी तरह ओडिसी नृत्य में कृष्ण की अनेक लीलाएँ नाची जाती हैं। ऐसा ही कुछ सुदूर मणिपुर के नृत्य मणिपुरी में भी होता है। इन सभी नृत्यों में कृष्ण को वृन्दावन में किसी न किसी से घिरा हुआ ही बताया जाता है। चित्रों में भी ऐसा ही कुछ हुआ है। उदाहरण के लिए पिछवाई चित्रशैली में भी अनेक गोपिकाओं को चित्रित किया जाता है। ऐसा ही कुछ अनेक लघु चित्रों में भी होता है। मैंने ऐसा यह पहला चित्र देखा है जिसमें कृष्ण हाथ में बाँसुरी लिए यमुना नदी के किनारे बिलकुल अकेले हैं। चित्र में रात घिर आई है, आसमान में तारे टिमटिमा रहे हैं, एक चाँद का टुकड़ा भी चमकता हुआ दिखाई दे रहा है। कृष्ण बिलकुल अकेले हैं। इस सुनसान यमुना तट पर बाँसुरी बजा रहे हैं। यमुना नदी इतनी पतली हो गई है जितनी शायद कृष्ण के समय भले ही न रही हो पर आज कई जगहों पर होगी। पर वह साफ है, उसके पानी में आसमान की चमक दिखाई दे रही है। कृष्ण कुछ ऐसे लग रहे हैं मानो वे वृन्दावन में न हों बल्कि किसी छोटे-से ग्रह पर खड़े हों। यह इसलिए क्योंकि चित्र में पृथ्वी अपनी गोलाई में दिखाई दे रही है। इस चमकीली रात में अकेले बाँसुरी बजाते कृष्ण मानो सारे ब्रह्माण्ड में उनकी बाँसुरी की आवाज़ गूँज रही हो। मानो कम-से-कम उस क्षण में सारे पृथ्वीवासी, जीव-जन्तु, पेड़-पौधे सो गए हों और तब भी कृष्ण यमुना किनारे आकर बाँसुरी बजा रहे हों। चित्र को ध्यान से देखने पर यह भी लगता है मानो कृष्ण ज़मीन पर नहीं, उससे थोड़े ऊपर खड़े हैं। शायद इसीलिए उस ऊँचाई से यमुना नदी उतनी पतली दिखाई दे रही है जितनी वह चित्र में बनाई गई है। यह वृन्दावन का गोप, यह वृन्दावन का शरारती बालक अन्तरिक्ष में कहाँ अकेले भटकते हुए बाँसुरी बजा रहा है? हर अच्छी कला अपने दर्शक या श्रोता या पाठक को प्रश्नों तक ले जाती है। यह चित्र भी इसी तरह अपने दर्शक को कुछ बड़े ही गहरे प्रश्नों को सौंपता है। क्या कृष्ण जैसे शरारती बालक का भी ऐसा कुछ अकेलापन था जिसके चलते वे ब्रह्माण्ड के एकान्त में अकेले खड़े बाँसुरी बजाते थे और उनके नीचे यमुना नदी बहती रहती थी? क्या इस छोटी-सी आयु में किसी भी बालक का ऐसा कुछ अकेलापन होता है? अगर हाँ तो उससे किसी भी बालक या बालिका को डरने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए यह चित्र यह बताता है कि अकेलापन भी कितना खूबसूरत हो सकता है।

– उदयन वाजपेयी

*सुप्रसिद्ध कवि, कथाकार। विभिन्न कलाओं पर चिन्तन एवं लेखन।*

प्रियम्वत सोनी, आठवीं, सागर, मध्य प्रदेश
फरवरी 2009 में प्रकाशित

हर अच्छी कला की तरह यह चित्र भी अपने दर्शक को कुछ बड़े ही गहरे प्रश्नों को सौंपता है।

**काले** का निर्भीक इस्तेमाल और उसमें नीला आकार इस चित्र को बहुत अनोखा बना रहा है। चित्र एकदम से ध्यान खींचता है। एक खास शैली में और सीधी रेखाओं से बने होने के बावजूद यह आकृति बेहद सुन्दर है। हम रात का अँधेरा...चमकते चाँद-सितारों को महसूस कर पाते हैं। फिर बाँसुरी बजाते कृष्ण के मुकुट को देखना भी कम आनन्ददायी नहीं। रंगों का ऐसा इस्तेमाल पूरे चित्र को रहस्यमयी और जादुई बना रहा है।

– मंजुला पद्मनाभन

**इस** चित्र की तरलता मनमोहक है। और इसका विषय बेहद दिलचस्प। प्रकृति और इंसान यहाँ एक-मेक हो रहे हैं। पहली नज़र में किसी को यह पौधा लग सकता है तो किसी को फूल या इंसानी चेहरे का आभास दे सकता है।

हरा रंग प्रकृति का प्रतीक है। मेरे लिए भी यह सृजन का रंग है। हर सृजन में पीड़ा होती है। जब ज़मीन से अंकुर फूटता है तो वो भी धरती की सतह को चीरकर ही निकलता है। तभी तो कुछ नया, कुछ ताज़ा बाहर आता है। कुछ संस्कृतियों में हरा द्वेष/ईर्ष्या का रंग माना जाता है। तभी तो वहाँ की कहावतों में यह आया कि – वो ईर्ष्या से हरा पड़ गया है। पर हमारी संस्कृति में हरे का उत्सव मनाया जाता है। वैसे ही जैसे लाल या बासन्ती पीले का। हमारे लघुचित्रों (मिनिएचर), गुफाओं के भित्तिचित्रों और पेंटिंग्स में भी हरा अकसर दिख जाता है।

इस चित्र की छवि का बीचों-बीच बना होना भी दर्शाता है कि इसे बनानेवाला अपनी इस रचना को लेकर बहुत निश्चित था। उसे पता था कि उसे क्या बनाना है और उसे प्रस्तुत कैसे करना है। ग्रे रंग के इसमें शामिल होने से वॉटर कलर फैल-सा गया है। इससे देखनेवाले को यह गुंजाइश मिल जाती है कि वो इस रचना को लेकर अपनी खुद की कोई कहानी रच ले। रचनाकार इस बहाव, विलयन और कुछ जगह तो ग्रे के हरे पर चढ़ जाने से पैदा हुई

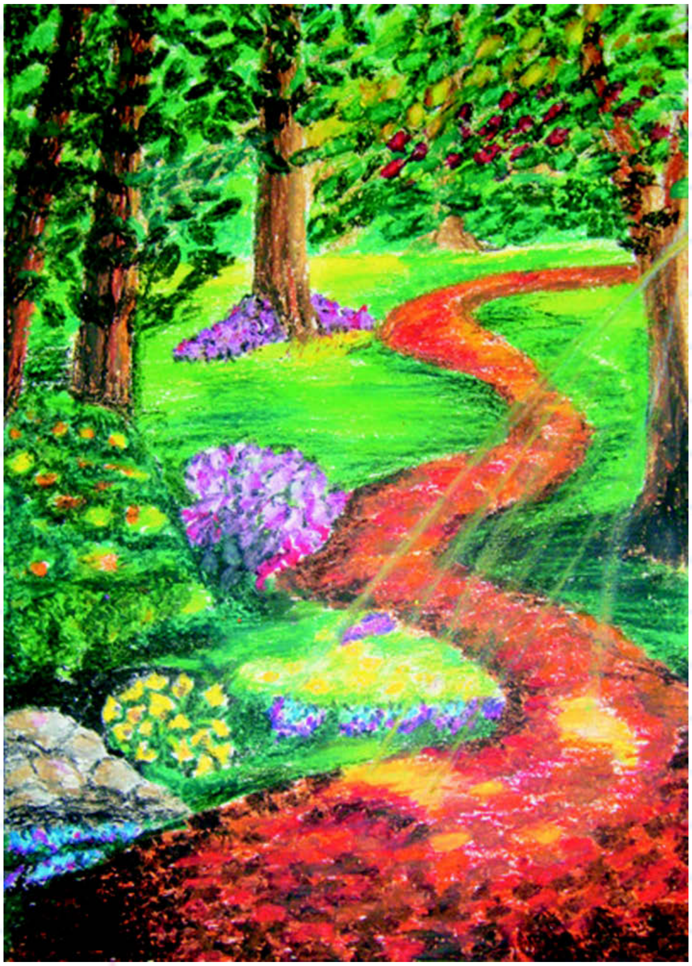

रशिका रामपाल, चौथी, गुड़गाँव, हरियाणा
जुलाई 2014 में प्रकाशित

**रशिका** रामपाल के इस चित्र ने कई कारणों से मेरा ध्यान खींचा। पहले तो इसलिए कि छोटे बच्चे स्वाभाविक रूप से जब प्रकृति को अपनी कल्पना-कला में दर्ज करते हैं तो अधिकतर भालू, शेर, चिड़िया, बादल, सूरज, झरने, तारों आदि जैसे मूर्त किरदारों को पकड़ते हैं। यहाँ ऐसा बिलकुल नहीं है। रशिका ने जंगल का एक दृश्य रचा है और उसमें सघनता से आज़माइश की है। इसमें एक साथ कई चीज़ें शामिल हैं। जंगल शायद किसी पहाड़ी के पास है लेकिन यह बहुत ज़ाहिर ढंग की बजाय बारीकी से पेश किया गया है। दूसरे, इस उम्र के बच्चे जब पेड़-पौधे बनाते हैं तो अमूमन उन पर टहनियाँ, पत्तियाँ, फल या घोंसला लाद देते हैं। इस चित्र में हरियाली के बीचों-बीच पेड़ों को उनके तनों के माध्यम से चित्रित किया गया है। बादामी रंग की कई छटाओं और कोणों में चित्रित ये तने बड़े मज़बूत हैं। एक तरफ ये जंगल के सौन्दर्य की तरफ कलागत इशारा है तो वहीं रशिका के अपने आत्मविश्वास का भी।

तीसरी महत्वपूर्ण बात इस चित्र का रंग-संयोजन है। हरे रंग की प्रमुखता के बीच अल्हड़ डोलती पगडण्डी अपने लाल, गुलाबी और केसरिया रूप में न सिर्फ हरे-हरे की एकरसता तोड़ती है बल्कि एक परिप्रेक्ष्य भी प्रदान करती जाती है। क्लोज़-अप में मिट्टी के कत्थई

अस्पष्टता को लेकर बिलकुल भी व्याकुल हुआ नहीं दिखता।

मुझे तो यह चित्र/पेंटिंग एक मौका देती है कि मैं इसमें जो दिख रहा है उससे परे चला जाऊँ। यह मुझे प्रकृति के साथ मेरे अनुभवों को भी याद दिला रही है – बगीचे में काम करने के और एक पौधा रोपने के मेरे पहले अनुभव को भी। यह मुझे उस यात्रा में भी ले जाता है जहाँ मैं उन कहानियों को याद करता हूँ जो पेड़ों पर लिखी गई थीं या फिर उन गानों को याद करता हूँ जो मेरी दादी मेरे लिए गाती थीं। उन गानों में कुदरत होती थी और उनका यह कहना भी कि यह हम इंसानों की ज़िम्मेदारी है कि हम इस सन्तुलन को बनाए रखें।

– पार्थिव शाह

रंग के साथ आसपास बिखरी वनस्पति की धजा भूरे, फिरोज़ी, जामुनी और पीले की गुत्थम-गुत्थी है... मानो विनम्रता से कहा जा रहा हो कि जंगल की विराटता में उन नन्ही चीज़ों और नामालूम रास्ते की महक का भी योगदान है। पेड़ों के बीच से रिसकर आती पारदर्शी तिरछी किरणों में एक तरफ जहाँ पहर (ढलती शाम!) का संकेत दिया जा रहा है तो वहीं प्रकृति के नितान्त अहम तारे – सूर्य – की भूमिका भी स्वीकारी गई लगती है। इस उम्र के बच्चे कैनवास का इस कदर भरपूर इस्तेमाल अमूमन नहीं करते हैं। चित्रकारी को परिभाषित करता हरा रंग भी अपने कई शेड्स – गहरे हरे से लेकर तोतई – में इस्तेमाल किया गया है जिसने जंगल की ही नहीं चित्र की समग्रता में भी इज़ाफा किया है।

– ओमा शर्मा

*कथाकार। कलाओं में गहरी रुचि।*

मुस्तफा अहमद, आठवीं, भोपाल, मध्य प्रदेश
मई 2014 में प्रकाशित

# स्वाधीन की साइकिल

**यह** चित्र बहुत ही मौलिक लगा। पूरी तरह से बच्चे के दिमाग से उपजा। कोई नकल नहीं! रंग ऐसे जो आमतौर पर इस्तेमाल नहीं होते। दमदार डिज़ाइन। पूरे चित्र में गति और कुछ "हो रहा है" का भाव है। यहाँ तक कि सवार और पहिए का अनुपात भी दुनिया को देखने की बच्चों की दृष्टि में गहराई से रचा-बसा है। नकल किए चित्र अकसर बच्चे के अपने अनुभव जगत से, दुनिया को देखने-समझने के उसके अपने ढंग से मेल नहीं खाते। इसीलिए वे रूखे-बेजान-कृत्रिम लगते हैं। वे कुछ कहते नहीं। क्योंकि इन चित्रों का बच्चों के मन में जो चल रहा है उससे कोई रिश्ता नहीं बन पाता।

20वीं सदी के ऑस्ट्रिया के पेंटर फ्रांज़ सिज़ेक उन पहले कुछ व्यक्तियों में से थे जिन्होंने बच्चों की कला का मूल्य समझा और इसे खूब प्रोत्साहित किया। वे लिखते हैं –

"बच्चों के चित्रों की सबसे खूबसूरत चीज़ उनकी गलतियाँ हैं। उनके चित्रों में जितनी ज़्यादा उनकी अपनी गलतियाँ होंगी, उनकी रचना उतनी ही समृद्ध और अनोखी होगी। और उन गलतियों को दूर करने में जितना किसी टीचर का दखल होगा बच्चे की रचना उतनी ही फीकी, उदास और रीती हुई होगी।"

वयस्कों के लिए ज़रूरी है कि किसी दृश्य या वस्तु के चित्रण में वे किसी एक "सही जवाब" की कल्पना न करें। इसकी बजाय वे बच्चों को यह गुँजाइश मुहैया कराएँ कि उन्होंने जो देखा है, महसूस किया है उसे अभिव्यक्त करने के वे अपने खुद के तरीके तलाशें। पूरी ईमानदारी से की गई इस प्रक्रिया को रुडॉल्फ अर्नहिम – खोजी दिमाग के काम में लगे होने के प्रमाण – कहते हैं।

वो इसकी तुलना एक ऐसे पर्वतारोही से करते हैं जो लगातार अपने जगहें बदलता जा रहा है। आगे बढ़ने के लिए उसे पहले की सुरक्षित जगह छोड़नी ही पड़ेगी। यह उस वक्त की माँग है। और ऐसा किसी एक व्यक्ति के सहारे या उसकी प्रेरणा से नहीं हो सकता। इसके लिए तो उसे भरोसा रखना ही होगा कि यह विश्वास और प्रेरणा उसे अपने भीतर से ही मिलेगी।

छोटे बच्चों के साथ काम कर रहे वयस्कों को बस उन्हें फैलने-फूटने का आकाश मुहैया कराना है। उनके साथ समय बिताना है। और उन्हें चित्र बनाने की सामग्री उपलब्ध करानी है। और हाँ, उनसे लगातार बातचीत करते रहना भी मददगार होता है। पर बात-बात में टोकते रहने से, लगातार सीखें देते रहने से या कला के नियम-कायदे बताते रहने से इस प्रक्रिया की गति बढ़ाई नहीं जा सकती – यह भी समझना है। उनकी अपनी सोच-समझ-नज़र से बने चित्र किसी को भी अचम्भित कर सकते हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि साइकिल का ऐसा चित्र इससे पहले कभी नहीं बना होगा। पर फिर भी देखनेवाले इसमें वो सब देख पाते हैं जो एक साइकिल में होता है। और जो इसे एक साइकिल का चित्र बनाए हुए है। इसमें उस नौसिखिए चालक का जोखिम भी

स्वाधीन जैन, चार साल,
होशंगाबाद, मध्यप्रदेश
जुलाई 1987 में प्रकाशित

है। छोटे बच्चों के लिए साइकिल सीखना डर और रोमांच से भरा अनुभव होता है। पर एक बार जो चलानी आ गई और खुद चला ली तो जो रोमांच, खुशी, आज़ादी महसूस होती है वो भुलाए नहीं भूलती। इस चित्र में बच्चा बड़े ही खतरनाक तरीके से साइकिल पर बैठा है। न तो उसके पैर पैडल पर हैं, न हाथ हैंडिल पर। फिर भी किसी जादुई तरीके से बिना गिरे वो साइकिल चला रहा है। इतना छोटा बच्चा और इतने बड़े पहिए! क्या इसी हैरानी में उसका मुँह खुला है? वो ज़मीन को तो कहीं छू नहीं रही तो क्या वो साइकिल उड़ने-उड़ने को है..?

– जेन साही

*जानी-मानी शिक्षाविद्। शिक्षा में कला की भूमिका पर काम।*

**यह** साइकिल का आड़ा आयताकार चित्र है। चार साल के स्वाधीन जैन ने साइकिल को देखा है। उसके साथ अपनी कल्पना को जोड़ा है और यह अद्भुत चित्र बनाया है। साइकिल के आगे का पहिया मेजन्टा रंग का है और पीछे के पहिए का आकार आगे के पहिए की तुलना में बिलकुल ही अलग। कद अलग, आकार अलग, रंग भी अलग। पीछे एक छोटा वृत्ताकार है। बीच में भरा आसमानी नीला रंग खाली जगह का इशारा है। इस वृत्ताकार की अनियत धारी में लाल-काले का मिला-जुला रंग है। उसके परिधि के तीन-चौथाई हिस्से पर जैतूनी रंग का चौड़ा पट है। और उसके बाहरी हिस्से में लाल-मेजन्टा रंग की अनियत पट्टी है। लगता है कि इस पट्टी को बनाते समय थोड़े घुमावदार हिस्से पर रंग लगा, फिर रंग सूख जाने से और ब्रुश के आगे बढ़ाने से कुछ समानान्तर रेखाएँ बनीं। उसके बाद ब्रुश को फिर से रंग में डुबोया तो आगे की पट्टी रंगदार बनी। रंग फिर से सूख गया और घूमती हुई समानान्तर रेखाएँ आगे बढ़ीं। कहीं टूटीं, कहीं जुड़ीं और अपनी मंज़िल तक पहुँच गईं। वहाँ बैठा है एक साइकिल सवार। हरे रंग का गोल सिर, सीधी रेखाओं से बनी गर्दन, हाथ और शरीर, और पैरनुमा आकार नीचे तक; "स्टिक फिगर" जैसा है यह सवार।

दो पहियों के बीच में खींची सुनियोजित समानान्तर धारियाँ उन पहियों को तो जोड़ती ही हैं, उस जुड़ाव के कारण गति का **ए**हसास भी दिलाती हैं। स्वाधीन ने पूरे चित्र को काले रंग के बार्डर में बाँध लिया है। चित्र के बीच में रंगों और रेखाओं की बहुलता और चारों ओर श्वेत रिक्तता साइकिल के रूपाकार को उभारती है।

यदि बताया न जाए कि यह एक बच्चे द्वारा बनाया गया चित्र है तो यह किसी औपचारिक शिक्षा प्राप्त कलाकार द्वारा बनाई गई भावपूर्ण आधुनिक कलाकृति ही लगेगी। परम्परागत चित्रशैली से भिन्न, आधुनिक चित्रकला में तार्किक यथार्थ का महत्व नहीं होता। स्वाधीन की कल्पना और उसकी अनायास अभिव्यक्ति उस की कृति को "कला" का स्थान देती है।

– डॉ. वर्षा दास

इसमें मोर का एहसास नहीं है। किन्तु इनमें मोर की चंचलता है।
इन रेखाओं में वह चंचलता है/ रंगों में चंचलता है।
इस चित्रों में मोर-सा नृत्य है।
किसी भी तरह की लय या ताल में नहीं है।
बस मोर भाव मन में है।

**मुझे** लगभग चालीस चित्र भेजे गए इस आग्रह के साथ कि इनमें से मेरी पसन्द के किसी एक चित्र पर मैं लिखूँ। तब मेरे लिए यह सम्भव नहीं था कि अपनी ज़िम्मेदारी न उठाते हुए किसी एक चित्र पर लिखकर छुट्टी पा लूँ। इन चालीस चित्रों में से मैंने कुछ चित्र चुने और उनके चार समूह बनाए। इन चित्रों को मैंने इनके विषय, इनमें मौजूद चित्रकारीय कौशल, कल्पना और विषय के साथ कल्पनाशक्ति के मेल-मिलाप के आधार पर बाँटा है। यहाँ मैं पहले समूह के चित्रों पर लिख रहा हूँ।

चित्रों पर बात किसी दूसरे माध्यम में करना भी अन्याय है। और इस अन्याय के साथ मैं भाषा के माध्यम से चित्रों पर कुछ लिखूँगा जो निश्चय ही इन अनूठे चित्रों को किसी भी तरह नहीं बतला पाएगा। भाषा को लगता है कि वह व्यक्त कर सकती है। किन्तु एक चाक्षुक अनुभव से जब उसका सामना होता है तब हम अकसर यह कहते हुए पाए जाते हैं कि "भाई मैंने एक ऐसा अजीब दृश्य देखा है कि मैं तुम्हें बता नहीं सकता।" फिर हम जो भी बताने की कोशिश करते हैं वो सब उस अजीब के इर्द-गिर्द होता है। हम अपना अनुभव किन्हीं भी शब्दों में अपने दोस्त तक नहीं पहुँचा पाते। हारकर हम कहते हैं, "यार, तुम देखते तो समझ पाते कि मैंने क्या देखा।"

इस तरह इन चित्रों को मैं एक और चित्र बनाकर ही बता सकता हूँ।

यहाँ ये कुछ चित्र हैं जिनमें हाथी और मोर चित्रित हैं। इन चित्रों की खासियत यह है कि न तो हाथी हाथी जैसा है न मोर-मोर जैसा। फिर क्या है जो इन चित्रों को खास बनाता है? वह है इन चित्रों का एहसास। पहले हाथी की बात। यहाँ दो चित्र हैं: अटल मीणा और नितिन डेविड के। इन दोनों कलाकारों ने हाथी की तस्वीर को हू-ब-हू बनाने की बजाय हाथी का आकार चित्रित किया है। अटल के चित्र में हाथी को काले रंग से दर्शाया है। इसमें कागज़ के अधिकांश हिस्से में हाथी चित्रित है। उसके आकार-प्रकार में खिलौनेवाले हाथी का डील-डौल ज़्यादा है। हाथी की पूँछ भी हाथी की पूँछ जैसी नहीं है। चित्र भावना प्रधान इस मायने में है कि चित्र में हाथी की भावना ज़्यादा है हाथी का चित्रण कम। मैं यह भी जानता हूँ कि अटल ने यह सब सोचकर नहीं बनाया है बल्कि चित्र बनाते वक्त विचार का स्थान हमेशा

**स्वाधीन** की साइकिल में चार साल के बच्चे की सरलता साफ झलकती है। मुझे साइकिल के बड़े-बड़े पहिए एक ही नज़र में भा गए। कुछ लोगों को ये पहिए बहुत बड़े लग सकते हैं। लेकिन चार साल के स्वाधीन की नज़रों से देखें तो वे बड़े ही तो होंगे! उसने अपने कद के हिसाब से जो अनुपात देखा वही बनाया। कई बार अपने बचपन की किसी चीज़ को देखकर लगता है कि अरे यह इतनी छोटी तो नहीं थी, फिर याद आता है कि हम कद में बड़े हो गए हैं। स्वाधीन का यही सरल अवलोकन मुझे बड़ा निजी लगा जैसे वह बेझिझक अपने आप को अभिव्यक्त कर रहा हो।

स्वाधीन के चित्र में गति का भी एक मज़ेदार एहसास है। उसने साइकिल के दोनों पहियों के बीच जो आड़ी लाइनें बनाई हैं उससे लगता है जैसे साइकिल चल रही है।

– मुदिता भण्डारी

भावना ले लेती है तभी चित्र में रस का संचार हो पाता है। अटल चित्र बनाते वक्त इतना तल्लीन हो गए कि अब हाथी को हू-ब-हू बनाने की कोशिश भी करना उन्हें नागवार लगा। उन्होंने हाथी को बड़े ध्यान से देखा है, इस चित्र की यह एक और खास बात है। अटल को देखना पसन्द है और वे हर चीज़ बड़े ध्यान से देखते हैं ऐसा उनके इस चित्र को देखकर लगा है। अटल ने चित्र में हाथी के नाखून भी बनाए हैं। यदि आप ध्यान से नहीं देखते हैं तब इस तरह की बातों पर ध्यान नहीं जाता है। चित्रकला का माध्यम ही ध्यान से देखना है। जितनी बारीकी से कलाकार देखता है उतना ही उसका सम्प्रेषण मज़बूत होता जाता है। अब यह भी कहा जा सकता है कि अटल मीणा ने यदि इतने ध्यान से देखा है तब पूँछ क्यों हाथी की पूँछ की तरह नहीं बनाई। इसका जवाब यही होगा कि अटल ने हाथी भी हाथी की तरह नहीं बनाया। वह बस हाथी का ध्यान है।

इधर दूसरा हाथी बड़ी सजावटवाला है। नितिन डेविड ने यह हाथी निश्चित ही टेलिविज़न पर देखा है या उसका कोई छायाचित्र देखा है। इसमें भी हाथी, हाथी जैसा नहीं बनाकर नितिन ने हाथी की विशाल आकृति को सामने से चित्रित किया है। हाथी को ऐसे केरल के ओणम उत्सव के दौरान सजाया जाता है। उसके मस्तक पर लटकता यह वस्त्र विशेष रूप से सजाया जाता है। यहाँ सबसे दिलचस्प बात यह है कि नितिन ने अनजाने ही हाथी की सवारी की तस्वीर उकेर दी है। वो शायद पहले सिर्फ हाथी बनाना चाह रहे थे फिर उस पर छत्र और उसके नीचे दो आकृतियाँ सहज ही चली आईं। यदि यह चित्र वे सोचकर बनाते तब ऊपर इतनी सी जगह नहीं होती जहाँ छत्र और दो आकृतियाँ ठीक से न बनाई जा सकें। नितिन ने भी काले रंग का इस्तेमाल किया किन्तु उसमें पानी की मात्रा घटा-बड़ा कर काले रंग के कई टोन बना दिए जिससे एकरेखीय परिप्रेक्ष्य भी उभर आया। नितिन भी हाथी को हू-ब-बू नहीं चित्रित कर रहे हैं और न ही वे किसी भावना से चित्र बना रहे हैं। उनका उद्देश्य हाथी को एक विशेष अवसर पर चित्रित करना है। नितिन का हाथी बहुत ही अनगढ़ है किन्तु अपने सम्प्रेषण में मज़बूत। यदि दर्शक इसमें ध्यान से हाथी देखने की कोशिश करेगा तो उसे खिलौनेवाला

अटल मीणा, 10 साल, राजस्थान
सितम्बर-नवम्बर अंक 2011 में प्रकाशित

नितिन के डेविड,
6 साल, केरला

उर्वशी प्रसाद, 6 साल, दिल्ली

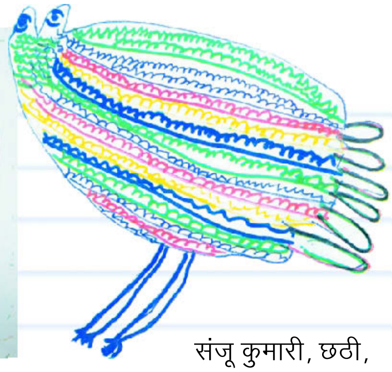
संजू कुमारी, छठी,
मन्दसौर, मध्य प्रदेश

हाथी भी नहीं दिखेगा। बल्कि उसे एक अलग ही संवेदना मिलेगी जिसमें हाथी तो है किन्तु हाथी भाव गायब है। नितिन ने बड़ी खूबसूरती से एक ऐसा माहौल चित्रित कर दिया है जिसमें हाथी प्रमुख है। यह माहौल उन्होंने सिर्फ तीन चीज़ों – हाथी के मस्तक की सजावट का कपड़ा, दूसरा छत्र और तीसरा उसके नीचे बैठी दो आकृतियों से रचा है।

इस तरह हम देखते हैं इन दो कलाकारों ने बड़ी खूबसूरती से अपनी भावनाओं को सिर्फ एक रंग के सहारे उस तक पहुँचा दिया। इन दोनों के चित्र अनगढ़ और अनियोजित हैं और यही इन चित्रों की ताकत भी है। यहाँ अटल और नितिन ने हाथी बनाते वक्त उसकी कला पर ज़ोर नहीं दिया। न ही वे उसे अनुपात में बनाने की कोशिश कर रहे हैं। उसने बस उस विशाल, भारी-भरकम काया का एहसास रंगों में पकड़ लिया। रंगों के बारे में कुछ भी कहना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मैंने मूल चित्र नहीं देखा है वरना मैं रंगों के बारे में भी कुछ बात कर पाता। अकसर बच्चों का कौतूहल हाथी ही क्यों बल्कि अन्य सभी जानवरों के प्रति इतना अधिक होता है कि वे उससे अपना सीधा सम्बन्ध बनाने का जोखिम भी उठा लेते हैं। उनका यही जुनून उन्हें अपने आसपास बसे-बिखरे संसार को अपनी नज़र से चित्रित करने को प्रेरित करता है। इन हाथियों में यही सीधा सम्बन्ध व्यक्त हो गया है। इस अप्रतिम डील-डौल की इतनी सहज उपस्थिति हमें अभिभूत करती है। इसमें हाथी को बनाने का जोखिम नहीं उठाया न ही हाथी देख उसकी नकल की गई है। बस एक बार में देखे गए हाथी का जो प्रभाव मन पर पड़ा उसी की छवि उकेरी है।

इन चित्रों में विषय की प्रधानता है – एक तरफ हाथी है दूसरी तरफ मोर। ये मोर भी किसी तरह से मोर नहीं है। इनमें हाथी की तरह मोर का एहसास भी नहीं है। किन्तु इनमें मोर की चंचलता है। इन रेखाओं में वह चंचलता है/ रंगों में चंचलता है। इन चित्रों में मोर-सा नृत्य है। किसी भी तरह की लय या ताल में नहीं है। बस मोर भाव मन में है। चित्रित कर रही उँगलियों में है। रंगों में भी मोर की कल्पना नहीं है। वे बस हैं रंग-बिरंगे। चित्रकार उर्वशी प्रसाद, मेघा कुशवाहा और संजू कुमारी इस बारे में तनिक भी चौकन्ने नहीं हैं कि उन्हें मोर बनाना है। वे बस मोर बनाना चाह रही हैं और मोर नाम की कल्पना में उन्हें जो भी अच्छा लगा चित्रित कर डाला। यह सिर्फ चित्र में डूबे हुए कलाकार का काम हो सकता है। ये चित्र बनाते वक्त इन कलाकारों में अचूक समानता दिखलाई देती है। यदि वे एक-दूसरे को जानती भी हैं तब भी यह सम्भव नहीं है कि वे एक जैसी पहुँच रखें। इन कलाकारों ने बहुत ही खूबसूरती से मोर की भीतरी रेखाओं को, जो उसका अस्थिपंजर नहीं है, पकड़ लिया। इन रेखाओं में, रंगों में कलाकार ने बेखौफ नृत्य किया जो दर्शक को अचम्भित करता है। बच्चों की यही भटकन उन्हें बड़ा चित्रकार बनाती है। वे किसी बनी-बनाई लीक पर नहीं चलना चाहते। वे कल्पना के उस अनन्त एकान्त में निश्चिन्त भटकते हैं जो उन्हें किसी भी शैली का शिकार होने से बचाती है। हम लोग भी बच्चों के चित्र देखते वक्त उनकी समझ से ज़्यादा उनके इस भटक भाव पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं – तब ज़्यादा उजला संसार हमें भी दिखाई देता है।

पहले उर्वशी के मोर को देखें। इस मोर का शरीर किसी बैल जैसा है। उसके चित्रण में सिर्फ कलगी ही मोर की है बाकी कोई भी अंग मोर के किसी भी अंग से नहीं मिलता। उर्वशी मोर पंख भी नहीं बनातीं। वे सिर्फ रंग-बिरंगी धारियों से मोर का एहसास चित्रित कर रही हैं। इनके रंगों में बहुत सारे रंग नहीं हैं, कुछ ही रंग हैं किन्तु उनका संयोजन सुन्दर है। उन्होंने जिस तरह एक रंग के पास दूसरा रंग रखा है वही इस चित्र में जान डाल रहा है। इस तरह रंग को एक-दूसरे के पास रखना उर्वशी का चित्रकारीय कौशल है।

इधर मेघा कुशवाहा बिलकुल ही दूसरे ढंग से मोर बना रही हैं मानो एक बड़े से मोर पंख में ही मोर छिपा है। सिर्फ मोर की गर्दन ही मोर का अहसास दिला रही है। बाकी कुछ भी मोर जैसा नहीं है। रंग भी सीमित हैं। हाथी के

आकार की तरह मोर का आकार पूरे कागज़ पर फैला हुआ है। साथ ही एक कमल का फूल भी खिला है। चित्र में मोर तो नहीं है किन्तु मोर देखकर जो खुशी होती है उसको पकड़ने की कोशिश में मेघा पूरी तरह सफल हो जाती हैं। मेघा ने ऐसा मोर शायद ही कभी देखा हो और कभी दिखेगा भी नहीं किन्तु उनकी मोर का चित्र बनाने की ईमानदार कोशिश ने इस मोर को आकर्षक बना दिया है।

तीसरा मोर इन दोनों से आगे है यहाँ ये मोर है या कोई और ये जानना मुश्किल है। संजू के चित्र में कलगी और गर्दन जैसा भी कोई पहचान चिन्ह नहीं है जिससे मोर जाना जा सके। यहाँ तो बस रंग-बिरंगे पेन हैं और उनसे बनी रंगीन रेखाएँ। क्या ये रेखाएँ मोर के नृत्य का प्रतीक हैं? इसकी आकृति भी किसी चिड़िया-सी नहीं है। न ही उर्वशी के बैलनुमा या मेघा के हाथीनुमा-सी आकृति है। यह कुछ ऐसा ही है कि यह मोर है और सिर्फ मोर है। इस मोर के पंख भी नहीं हैं किन्तु इसमें कुछ ऐसी बात है जो अन्य चित्रों में नहीं है। यह चित्र कलाकार की मर्ज़ी का चित्र है और इसमें मंशा सिर्फ रंगों और रेखाओं से खेलने की है। यहाँ संजू के मन में चित्र बनाने की लालसा प्रबल है जो उन्हें एक बिलकुल ही अपरिचित रूपाकारों में मोर बनाने के लिए उकसाती है।

फिलहाल इतना ही अगली किश्त में किन्हीं और चित्रों के बारे में और किन्हीं और कलाकारों के बारे में।

– अखिलेश

*प्रख्यात चित्रकार*

मेघा कुशवाहा, पहली,
बुधनी, मध्य प्रदेश
मार्च 1997 में प्रकाशित

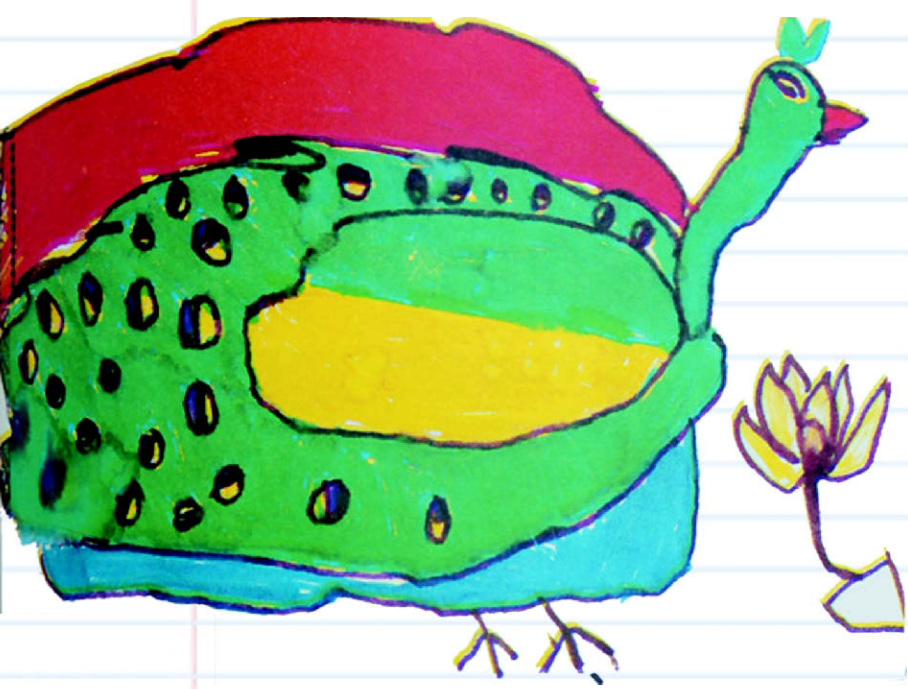

# कलाकृति

(पेज 49 का शेष भाग)

आगे भी जाती है। पर कितना? इसका कुछ अन्दाज़ बाएँ छोर पर खड़े उस घर से मिलता है जो आधा कटा हुआ है और जिसके सामने खड़े पेड़ की चोटी का कुछ हिस्सा भी चित्र में नहीं है। इस तरह बाईं तरफ आगे या तो गाँव है जिसका एक हिस्सा चित्र में नज़र आनेवाले ये घर हैं। या फिर यह भी सम्भव है कि गाँव वही है जो हमारी आँखों के सामने है तथा पेड़वाला कटा हुआ घर ही उसके बाएँ छोर का अन्तिम घर है।

यदि यह बाद वाली व्याख्या सही है तो फिर थोड़े-से घरोंवाला यह गाँव एक विराट रिक्त स्थान में बसा हुआ है। हमें नहीं पता कोई अन्य गाँव या बस्ती इससे कितनी दूर है, या है भी कि नहीं!

हाँ, एक बात ज़रूर है। इस गाँव के आसपास कहीं पानी का स्रोत है। क्योंकि चित्र में चार महिलाएँ भी हैं जो सिर पर मटका उठाए कहीं से आ रही हैं या कहीं जा रही हैं। उनमें से दो के साथ एक-एक बच्चा भी है। इन बच्चों और महिलाओं को देखकर हम आश्वस्त होते हैं कि यहाँ भी कोई जीवन चल रहा है। हालाँकि चित्र को देखते हुए हम यह भी पूछ सकते हैं कि इसमें जीवन चल रहा है या कि वह खड़ा है?

– रुस्तम सिंह

*कवि, चिन्तक*

# उदयपुर का यह हंस

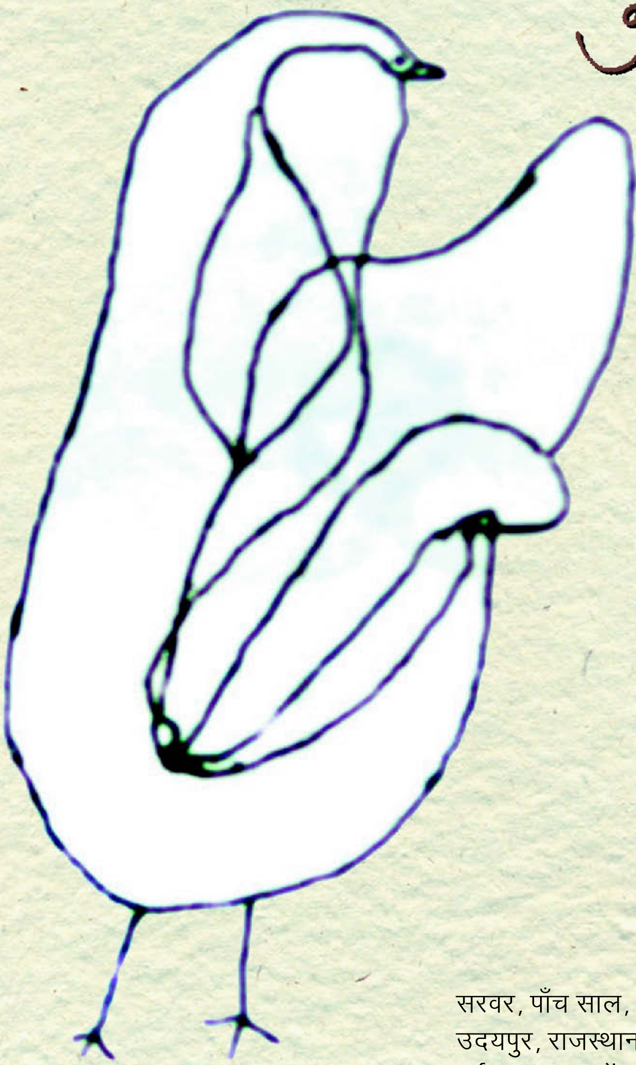

सरवर, पाँच साल,
उदयपुर, राजस्थान
मई-जून 2001 में प्रकाशित

**मैं** बेशक गलत हो सकता हूँ, पर मेरे लिए तो पाँच साल की सरवर ने हंस ही बनाया है। शायद उसके अपने शहर की किसी झील में हंस को देखा हो! हो यह भी सकता है कि उसने किसी हंस का चित्र देखकर इसे रचा हो। बच्चे अकसर ऐसा करते हैं। पर मैं इसी पर यकीन करना चाहता हूँ कि सरवर ने अपने देखे हुए की स्मृति से ही इसे बनाया है। उदयपुर की किसी झील में तैरते लम्बी गर्दनवाले एक सफेद पक्षी की स्मृति में...

इस चित्र का हंस सच के हंस से बहुत अलग है। इस हंस की लम्बी गर्दन कई जगहों पर ज़्यादा ही मोटी है और गर्दन के एक सिरे पर टँगा सिर ज़्यादा ही छोटा है। इसके पंख भी वैसे नहीं जैसे सच के हंस के पंख होते हैं। पर जो बात इस चित्र को कमाल की ऊँचाइयाँ देती है वो है इसके शरीर और गर्दन की मुद्रा। लगता है जैसे वो अपनी लम्बी गर्दन को अपने उठे हुए शरीर से सटाए हुए पीछे देख रहा है। इसके पैर हंसों के पैर जैसे नहीं दिखते और न वे वहाँ हैं जहाँ हंसों के पैर होते हैं। कुल मिलाकर यह कि अगर प्रकृति को ज़्यों का त्यों दर्शाना एक अच्छे चित्र का मापदण्ड होता, तो यह चित्र उस कसौटी पर बिलकुल खरा न उतरता।

पर इससे कोई इंकार नहीं कि हमारे सामने एक हंस का खूबसूरती से मुकम्मल किया हुआ, कितना कुछ कहता चित्र है।

जब हम प्रकृति को किसी चित्र या पेंटिंग में उतार रहे होते हैं तो दरअसल हमारे भीतर एक और क्रम या पैटर्न उभर रहा होता है। और यह उस कुदरती या जीवित उदाहरण से बहुत अलग हो सकता है। चित्रकला की शैली और डिज़ाइन अपने अलग कलात्मक क्रम विकसित करती है। और अगर हम इस नज़रिए से देखें तो पाएँगे कि चित्र में हंस के पैर एकदम सही जगह पर हैं। यह इस विशाल पक्षी के कसे हुए रूप और मुद्रा की माँग थी कि इसकी टाँगें वहीं हों जहाँ वो दिख रही हैं। तभी तो वो हंस के शरीर को थामे रख सकती हैं और वो सन्तुलित रह सकता है। ऊपर की तरफ फैले दाएँ पंख ने जिस तरह इसकी गर्दन के एक हिस्से को ढँक रखा है वो देखते ही बनता है। इससे यह एहसास होता है जैसे वो अपने सिर को पंखों पर बड़े सुविधाजनक तरीके से टिकाए कुछ बहुत गहरा सोच रहा है।

बेशक पाँच साल की सरवर ने उदयपुर के हंस को अपने चित्र में जिस तरह अमर बना दिया है वो बेहद प्रशंसनीय है।

– ल्यूक क्रिसविक

**क्या** इस नन्हे कलाकार को अन्दाज़ा था कि यह एक रेखा उसे कहाँ ले जाएगी? जब उसने कागज़ पर कलम फिराना शुरू किया था क्या वो जानता था कि अन्त में उसके सामने क्या आएगा? या क्या वो बस एक गहरी काली रेखा बनाने के लिए पहलेवाले निशान का पीछा करता गया, और अन्त में देखा तो कागज़ पर एक सुन्दर आकृति नाच रही थी? पता नहीं! पर चाहे जो भी हो, इस काली रेखा की शुद्धता मुझसे बात करती है। वो लकीर उस सुडौल सफेद हंस की खूबसूरती और आकर्षण को जाने कैसे सामने ले आई है, जो नाचने और उड़ जाने के लिए खुद को पानी से बाहर निकाल रहा है। यह एक काली-सफेद, बेहद दमदार कलाकृति है। मुझे भेजे चित्रों में से यह एकदम से मुझ पर कूद पड़ी। इस रेखा और कम्पोज़ीशन (संयोजन) को देखकर मैं कह सकती हूँ कि मैं एक ऐसा कलाकार देख पा रही हूँ जिसका खुद पर यकीन है और जिसकी प्रयोग करने में गहरी दिलचस्पी है।

– माउॅरा हर्ले बासु

*पर्यावरण, शिक्षा और कला पर काम करती हैं।*
*शिक्षामित्र, कोलकाता में कला शिक्षक हैं।*

**बारिश** थमी हुई है। आकाश शान्त है। चारों तरफ खामोशी है। लगता है परिन्दे भी अपने घरों और घोंसलों में लौट चुके हैं। शाम जैसा रंग है। हवा ठहरी हुई है। धरती पानी से भरी है। संतृप्त। हरे खेत हैं। उठते हुए बिरवे। धान के हरे। खूब जल भरे। और अचल पेड़ हैं। आसमान को तकते घर हैं। मचान। पर कहीं कोई आदमी नहीं। कोई पशु-पक्षी नहीं। लगता है सब अपने-अपने घरों में हैं। जैसे नींद आ रही हो वैसा ही आसमान है। सब कुछ स्थिर। कोई गति, कोई वेग, कोई आवेग नहीं। पूरी सृष्टि सन्तोष और सुख से निस्पन्द। गहरी साँस लेती सो रही कोई बच्ची। आश्वस्त। आकाश, जल और थल एक लय में समरस। धीरे-धीरे शाम ढलेगी। धीरे-धीरे अँधकार पूरी धरती को मूँद लेगा। ठीक उसके पहले का पहर। पूर्णता का बोध। धरती जीवन से बिलकुल इतना भरी कि अब एक अतिरिक्त बूँद भी इस सन्तुलन और संगति को विचल कर देगी। विराम। शान्ति। शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

– अरुण कमल

*हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि*

सूफा करापा,
अरुणाचल प्रदेश,
आठवीं
अगस्त 2011 में
प्रकाशित

उर्वशी प्रसाद, 6 साल, दिल्ली
नवम्बर 1996 में प्रकाशित

**चित्र** पर लिखने बैठा हूँ लेकिन चित्र सामने खोला नहीं है अब तक। उसे खोलने की ज़रूरत ही नहीं होती – दिमाग में छप-सा गया है यह विचित्र जीव जिसे उर्वशी प्रसाद ने "पेकोक" नाम दिया है। और सही भी है – भले ही दिखने में तो यह बकरी, भेड़ और चिड़िया का मिश्रण है, लेकिन इसके इन्द्रधनुषी पट्टीदार शरीर को देखकर हम इसे मोर के अलावा कुछ और मान ही नहीं सकते। ज़िया हैदर रहमान के नए उपन्यास *हम जितना जानते हैं* में एक किरदार अपने दोस्त से कहता है, "आँख बन्द करो और हाथी सोचो। बोलो क्या दिखा?" दोस्त कहता है, "हाथी दिखा, विशालकाय, काला, लम्बे दाँतोंवाला।" इस पर पहला दोस्त कहता है, "अब आँख बन्द करो और पन्द्रह की गिनती सोचो। बोलो दिखी?" दूसरा कहता है, "हाँ, बिलकुल दिखी।" इस पर पहला दोस्त समझाता है, "गलत! तुम्हें जो दिखा वो संख्या पन्द्रह का प्रतिनिधित्व है – संख्या एक के आगे लगी संख्या पाँच। वह सिर्फ गणित के एक निराकार सिद्धान्त (संख्या रेखा) को अभिनीत करनेवाले एक्टर ही हुए। संख्या पन्द्रह का शाब्दिक/चित्रात्मक अनुवाद।"

यह पढ़कर मेरे अपने कई बरसों के सीखे सिद्धान्त हिल गए। संख्याएँ क्या हैं? सिर्फ किसी अमूर्त, जटिल सिद्धान्त के आसान से चित्र। और ये चित्र हैं इसीलिए हर भाषा में अलग अनुवाद की तरह बदल जाते हैं। हिन्दी में पन्द्रह को १५ लिखेंगे, अँग्रेज़ी/रोमन में 15, और दुनिया की ढेर अन्य भाषाओं में ढेर अलग तरीकों से। इसी तरह, अगर मोर को सिर्फ एक जीव न मानकर एक सिद्धान्त मान लिया जाए, या एक विचार, तो हम सबको उसे अपनी-अपनी भाषाओं में अनुवाद करने की इजाज़त है, और उसी इजाज़त की एक बढ़िया पहल है उर्वशी प्रसाद का यह चित्र। उर्वशी ने अपनी कल्पना से मोर को एक जीव से बढ़कर एक सोच बना दिया।

अब ज़रा इस चित्र को और ध्यान से देखते हैं। इस मोर की एक पूँछ है, सर पे कलगी है, पाँव किसी साधारण चिड़िया जैसे हैं और गले पे नीचे तक लटकती गद्देदार खाल है. . . या फिर मोर ने मफलर ओढ़ रखा है? इतने सारे अजब पैटर्न और ख्यालों को मिलाकर बना यह जीव अजीब लगना चाहिए था लेकिन नहीं लगता है। इसकी सहजता ही इसकी सबसे बड़ी खासियत है। उर्वशी प्रसाद ने सोच लिया, बना दिया, और मानो वह जीव ज़िन्दा हो गया। यही काम कोई नामी चित्रकार भी कर सकता था। और बहुतों ने किया भी होगा! लेकिन जब कोई वयस्क चित्रकार यह करेगा तो उसके अन्दर ऐसा करने के बहुत से कारण होंगे। कोई गूढ़ विचार होगा। चित्र से बड़ा कुछ कहने की कोशिश भी हो सकती है। पर उर्वशी की कूची से यह चित्र स्ट्रीम ऑफ कॉन्शियसनेस (अर्थात चेतना की धारा) की तरह निकला है। जैसे कि यह जीव उसे सपने में दिखा हो। और इसका नाम "मोर" इसके बनने के बाद रखा गया हो।

– वरुण ग्रोवर

*गीतकार, कथा/पटकथाकार*

**यह** चित्र मुझे बहुत ही पसन्द आया। इसकी एक वजह यह है कि यह किसी जानवर जैसा दिखता है, मोर जैसा नहीं। गाय, बैल आदि की गर्दन के नीचे जैसे चमड़ी लटकती रहती है, वैसी त्वचा इस मोर की है। उस पर हाथ घुमाने या सहलाने में मज़ा आता है। इसके सर पर कलगी है, शायद इसलिए इसे मोर कहना ठीक होगा। इसके पूरे शरीर पर रंग-बिरंगी धारियाँ बनाई गई हैं। कलगी और धारियाँ बेहद सुन्दर हैं और उनके रंग भी असली लगते हैं। इन चित्रों को देखकर मुझे मेरे पसन्दीदा चित्रकार पॉल क्ली की याद आई। वे भी बच्चे की तरह रंगों से खेलते हैं। ज़्यादातर चित्रकार मोर की धारियाँ आड़ी बनाते हैं, क्योंकि उन्हें बनाना आसान होता है। पर इस चित्रकार ने खड़ी धारियाँ बनाई हैं – ठीक शेर या जिराफ की तरह। चित्रकार का यह आग्रह बिलकुल नहीं है कि उसने जो आकृति बनाई है वह मोर की तरह दिखाई दे। उसे जैसा अच्छा लगा, वैसे-वैसे वह रेखाएँ खींचता गया। रंग भरता गया। रंगों के साथ खेलता गया। न तो वह किसी विषय में कैद हुआ है, न ही उसने इस बात की परवाह की है कि लोग क्या कहेंगे? उसके भीतर कोई द्वन्द्व नहीं है। वह बस चित्र बनाने का आनन्द उठा रहा है।

– अनिल अवचट

*मराठी के जाने-माने साहित्यकार, चित्रकार, शिल्पकार। चिकित्सक और संगीत के जानकार।*

अग्निश्वर दास मित्र, सातवीं, असम
जुलाई 2012 में प्रकाशित

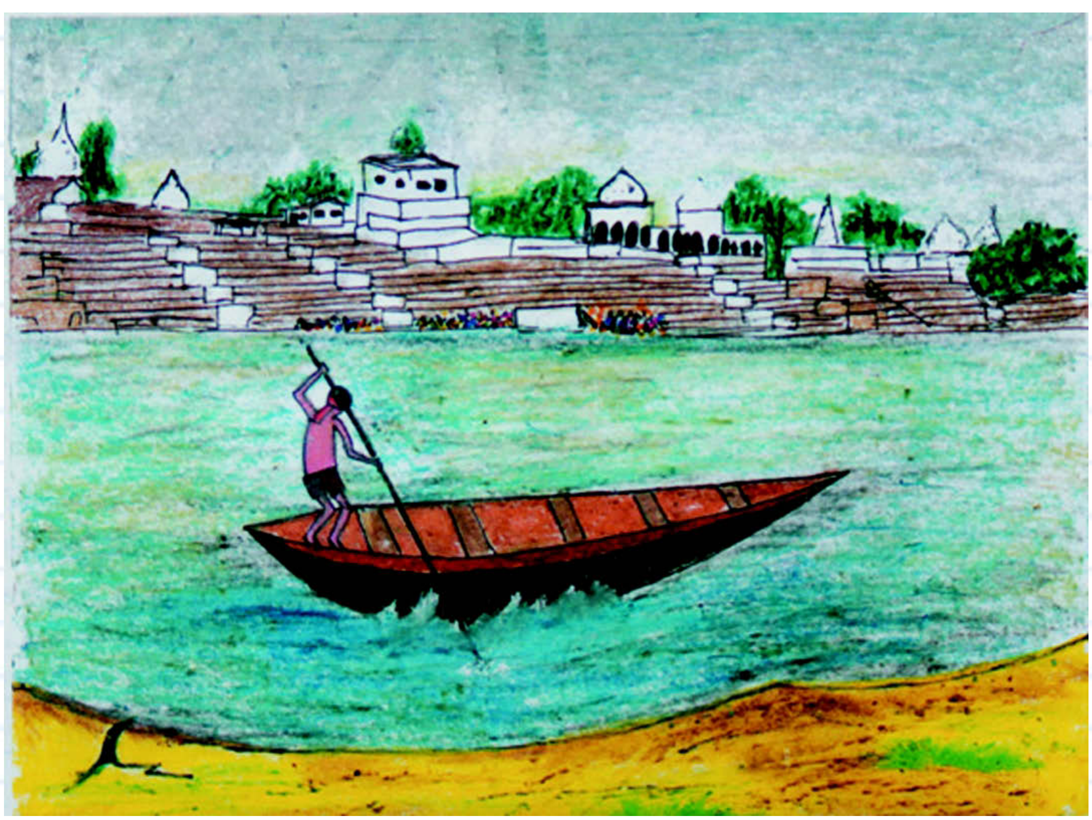

**इस** चित्र की सुगठित, सधे ढंग से चित्रित नाव ने मुझे बहुत प्रभावित किया। साथ ही घाट से पानी की ओर जाती सीढ़ियाँ भी वैसी ही सटीक चित्रित हैं। पानी भी नीले रंग की कितनी ही आभाओं से बना है। चित्र में एक बड़े बाँस या पोल को ताकत से नीचे की ओर धकेलते हुए नाव को खेने की नाविक की कोशिशों को महसूस किया जा सकता है।

– मंजुला पद्मनाभन

वन्दना वर्मा, दूसरी, भिलाई, मध्य प्रदेश
अक्टूबर 1999 में प्रकाशित

# खिड़की

**इस** धरती पर रोज़ बहुत-से बच्चे जन्म लेते हैं। क्यों लेते हैं? जवाब में विज्ञान यह बताता है कि इस संसार से मनुष्य नाम का जीव, यानी हम खत्म न हो जाएँ इसलिए बच्चे पैदा होते हैं। विज्ञान और भी बहुत कुछ कहता है लेकिन खुद मुझे ऐसा लगता है कि इस संसार में हर बच्चा हमारे जीवन में एक नई खिड़की खोलने आता है जिससे, दुनिया को नई तरह से देखा, सुना और अनुभव किया जा सके। अकसर उम्र के किसी पड़ाव पर हम देखना-सुनना बन्द कर देते हैं। डॉक्टरी जाँच के अनुसार आँख, कान ठीक होते हैं लेकिन हमें कुछ भी चकित नहीं करता, न नया लगता है। कोई दृश्य ऐसा नहीं लगता जो नींद में सपने का भी हिस्सा बन जाए। खुद से अलग, कोई घटना इतनी बड़ी नहीं लगती जिस पर दो आँसू छलक आएँ या खुशी से ताली बज उठे।

हर बार जब एक बच्चा चींटी, फूल-पत्तों, बादल, पत्थर, आकाश को देखता है तो वह इन्हें नई तरह से देखता या खोजता है। अभी उसके पास न इनसे जुड़ा कोई भय है, न नाम। क्या था? कैसा था? कैसा होगा? के जालों से मुक्त उसकी आँख सिर्फ वह देखती है जो ऐन इस क्षण घटित हो रहा है। लेकिन अपनी हड़बड़ी में हमें लगता है कि वह कुछ देख-समझ नहीं रहा। वक्त ज़ाया हो रहा है और हम उसे दिखाने, सिखाने लगते हैं। उस जादुई खिड़की से देखना तो दूर हम उस पर जल्दी से जल्दी एक सीनरी चिपका देते हैं जिसमें दो नारियल के पेड़ों के बीच एक घर होता है। सूरज पहाड़ों के बीच से उग रहा होता है या ऐसा ही कुछ और घिसा-पिटा, रटा-रटाया दृश्य। इस तरह दुनिया को नई आँख से देखने का मौका हम तो गँवाते ही हैं पर हम उस बच्चे की नया देखने की काबिलीयत पर भी भारी पर्दा गिरा देते हैं।

बच्चों के चित्रों को अच्छे या बुरे की कोटि में रखने की हमारी हड़बड़ी ही उनके चित्रों का सही आनन्द लेने में आड़े आती है। उन्हें खुशी देने, चकित करनेवाले कारण अकसर हम से अलग होते हैं। राम-रावण की या कैसी भी लड़ाई का अर्थ अभी उनके लिए कुछ और है। बछड़े का गाय के पेट से जन्म लेना मनुष्य के चाँद पर पहुँचने से बड़ा अजूबा है।

कक्षा दो की वन्दना वर्मा के चित्र में राम-रावण युद्ध कर रहे हैं या होली खेल रहे हैं? राम के तीर की नोक से हरा रंग बरबस फूट पड़ा है। इन्हीं की तीर रूपी पिचकारी से निकले रंगों से रावण की पोशाक इतनी रंग-रंगीली हो उठी है कि उसके क्या कहने! इठलाती जूतियाँ, चमकीले बटनों की लम्बी कतार और इन्होंने जेबों में क्या भर रखा है?

बिन्दु, त्रिकोण, गोल, चौकोर, आयताकार आदि ज्यामितीय आकार दुनिया में रूप या आकार को समझने-बनाने के सबसे पुराने और सबसे आधुनिक उपाय हैं। संसार के किसी भी कोने के गुफा चित्रों में इनके इस्तेमाल से आकृतियाँ गढ़ी गईं। बच्चे भी इस अमूर्त ज्यामितीय आकारों का बहुत इस्तेमाल करते हैं, जैसा कि इन दोनों चित्रों में देखा जा सकता है। वे अकसर किसी को चौकोर मुँह वाले अंकल, तिकोने

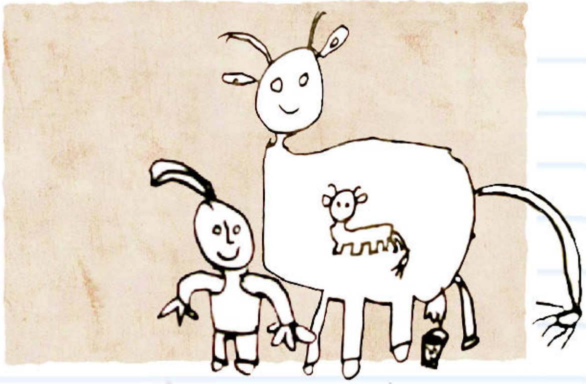

मुँह वाली मैडम कहकर पहचानते हैं! गाय-बकरी अकसर उन्हें चार डण्डों या पायों पर खड़े एक बक्से जैसी दिखती हैं जैसी कि चन्द्रपॉल ने यहाँ बनाई है और उस पर फिर गोल-गोल आँखोंवाला गोल या तिकोन मुँह! (चित्र पेज 39 पर देखें) जानवरों की लम्बी, हिलती-डुलती पूँछ और मूँछ में बच्चों को बड़ा मज़ा आता है। गुँथी हुई लम्बी चोटियाँ या लटकता नाड़ा बरबस उन्हें पूँछ की याद दिलाते हैं और वे अपनी हँसी रोक नहीं पाते। चित्र में गाय, उसके पेट में छिपे बछड़े और ग्वाले (?) के चेहरों के भाव में कितना साम्य है। वे एक खुशनुमा दिन में इकट्ठे खुश हैं।

पहले चित्र में राम-रावण की लड़ाई भी दो खास दोस्तों के बीच होती जान पड़ती है। रावण के बाकी सारे सिर पर तो दो-दो आँखें हैं पर बीच वाले मुख पर केवल एक आँख है। राम के चेहरे पर केवल बाँई आँख और रावण के चेहरे पर केवल दाँई आँख! क्या ये गज़ब दोस्ती है या शायद वे गर्दन घुमाकर एक-दूसरे से कुछ कह रहे हैं और इसलिए हमें उनके चेहरे का केवल एक हिस्सा या प्रोफाइल दिख रहा है। घास के फूलों की सुन्दर बिछावन पर वे एक-दूसरे के इतने करीब से लड़ रहे हैं कि कभी भी गले मिल, एक-दूसरे को अपने औज़ार दे सकते हैं! चकमक

– शम्पा शाह

*मिट्टी के शिल्प बनाती हैं। लोककलाओं पर सघन काम।*

**पहली** नज़र में इसकी बाहरी रेखाओं के कारण यह चित्र एक चिड़िया का लगता है लेकिन बीच की चक्करदार बनावट (टेक्सचर) इसे और रोचक बना रही है। यह बनावट चिड़िया के पंखों से एकदम अलग है। यही बच्चे की कल्पनाशीलता की खूबी है कि वो जो चित्रित करता है उसका कुछ अंश तो प्रकृति या उसके आसपास से मिलता-जुलता है लेकिन अधिकांश हिस्सा हर परिभाषा और पहचान से दूर, उसकी कल्पना और रचनात्मकता की उपज होता है। चित्र की इस चिड़िया की आँखें इंसान की-सी लगती हैं जो उल्लू की तरह हमें घूर रही हैं। किसी स्प्रिंग की तरह चक्करदार बहुरंगी टेक्सचर आसमान में फैले परतदार बादलों की या अनन्त क्षितिज तक फैले चरागाहों की याद दिलाता है। चित्र को देखकर लगता है कि बच्चे ने पहले इसे चिड़िया का आकार देने के लिए इसकी बारीक बाहरी रेखा बनाई फिर अनायास भाव से उसे मोटी रेखाओं से भर दिया। चकमक

– मदन मीणा

*चित्रकार। लोककलाओं पर काम।*

## रोचक बनावट चक्करदार

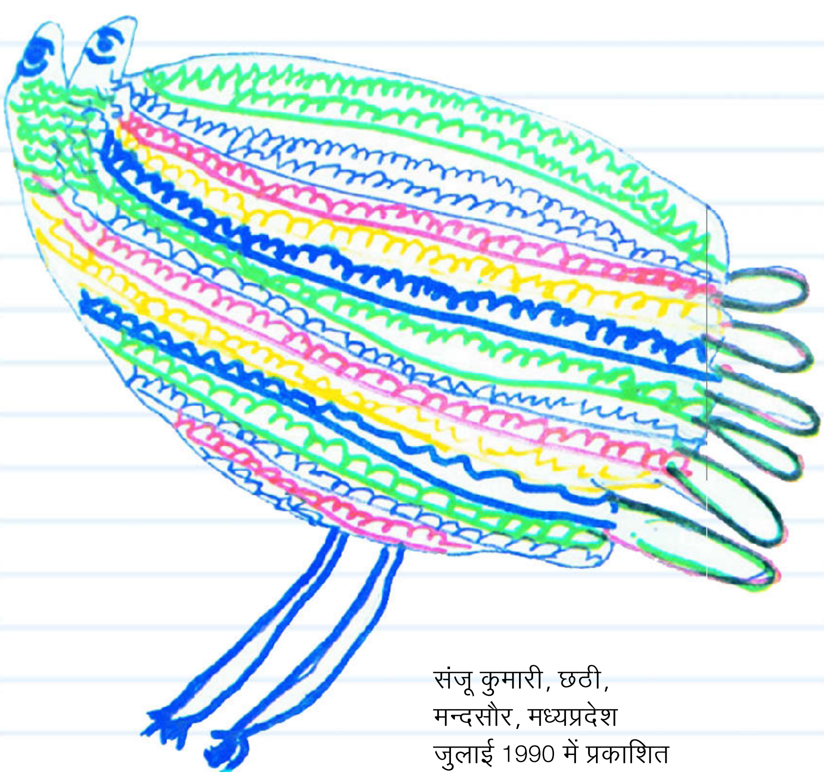

संजू कुमारी, छठी,
मन्दसौर, मध्यप्रदेश
जुलाई 1990 में प्रकाशित

# एक चित्र का जीवन

**बच्चों** या बड़ों के बनाए चित्रों की ही तरह उल्लू के इस चित्र का भी एक जीवन है। यह चित्र जनवरी 1987 में चकमक के कवर पर छपा था। सैंकड़ों बच्चों द्वारा बनाए चित्रों में से इस एक चित्र को कवर के लिए चुना गया था। एक से एक सुन्दर चित्रों में से चकमक के कवर के लिए एक चित्र को चुनना न ही तो आसान काम था, न सही। लेकिन चूँकि कवर पर तो एक ही चित्र को रहना था, इसलिए अन्तिम दौर में यह रोचक और रंगीन उल्लू सब की सहमति से चुन लिया गया।

विप्लव शशि, 7 साल
पिपरिया, मध्यप्रदेश
जनवरी 1987 में प्रकाशित

लेकिन यह चित्र सिर्फ किसी उल्लू का चित्र नहीं है। इसका शीर्षक है "— मौसी ने काजल लगाई।" इस चित्र के जीवन में एक मौसी भी थी, जिसके साथ छह वर्ष का चित्रकार विप्लव एक बहुत ही सुन्दर परिसर में रहता था। माहौल ग्रामीण था और खूब हरियाली थी। जीव-जन्तु, साँप-बिच्छू, मोर, कुत्ते, सब थे वहाँ। लेकिन यह परिसर गाँव के भीतर न होकर सड़क किनारे बसा हुआ था। परिसर में रहनेवाले लोगों का जीवन कठिन और कुछ-कुछ दुखी भी था। शायद इसलिए कि उस ग्रामीण संस्था के इस सुन्दर परिसर में रहनेवाले ज़्यादातर लोग शहरी थे। अपने माहौल से कटे हुए वे लोग पूरी तरह वहाँ रहकर सहज नहीं थे। विप्लव की तरह वहाँ रहते हुए अन्य बच्चे इस माहौल का ज़्यादा मज़ा लेते थे क्योंकि शहर की याद उन्हें नहीं सताती थी।

"—— मौसी" उन लोगों में से थी जिसका काम ही बच्चों के साथ था। यह भी एक कारण था कि वह कुछ और लोगों के साथ बच्चों के बीच कुछ ज़्यादा ही रहती थी। विप्लव की माँ भी वहीं थी और एक बड़े समुदाय के बीच इन तीनों का एक अलग-सा परिवार भी बन निकला था। यह सब इस चित्र का जीवन बन रहा था, जिसमें कई किस्म के खेल भी शामिल थे। विप्लव और मौसी गिरगिटों को रंग बदलता देखते और मोरों के बच्चों को दाना डालते। जिस कुएँ पर वे सब नहाते, उसके पास उगा हुआ कोसम का झाड़ उल्लुओं का डेरा था। दिन-दिहाड़े कोई उल्लू उन्हें दर्शन दे देता तो वे खुशी से पागल हो जाया करते। शायद तीस वर्ष की मौसी एक बार फिर से विप्लव के संग बड़ी हो रही थी। बहुत सोच-समझकर न सही, लेकिन और कलाकारों की तरह वे दोनों अपने जीवन को वैसा ही बनाने की कोशिश करते जो उनकी समझ में कला के लिए अच्छा था। मौसी को समझ में आता था कि जब विप्लव आसपास बैठकर चित्र बनाता, तो वह भी अपना काम लगन से कर पाती थी। मौसी के पास बैठे विप्लव के चित्र भी खुले-खिले रंगोंवाले और मस्त हुआ करते।

अब इस चित्र में बने उल्लू को गौर से देखने पर इसमें मुझे मौसी की आँखें साफ-साफ दिख रही हैं। मौसी की नाक भी। और इस चित्र में मुझे उस छींट के कपड़े की डिज़ाइन भी दिख रही है जिसका कुर्ता मौसी उन दिनों पहना करती

थी। मेरा ध्यान इस बात पर भी गया कि उल्लू के पंखों पर भी कुछ ऐसा नमूना बना हुआ रहता है जिसे आसानी से विप्लव ने मौसी की पहनी छींट से जोड़ दिया है। टहनी को पंजों से पकड़कर बैठे हुए उल्लू को दिखाने की गर्ज़ से शायद दो क्रॉस के निशान आकृति के बीचों-बीच लगे हैं। लेकिन ठीक-ठीक कहना कठिन है कि ये निशान क्यों लगाए गए हैं। ये क्रॉस पंजे हैं या कुछ और!

बाईं ओर लाल-पीला डिज़ाइन नीली रेखा के बाहर तक फैला हुआ है। दाईं ओर रेखा के भीतर। अगर कोई यह निष्कर्ष निकालना चाहे तो सही होगा कि बालक पर ऐसा दबाव कोई नहीं डालता रहा होगा कि उसे बाहरी रेखा के भीतर ही भीतर रंगों को भरना है। मगर यह बात भी उतनी ही सच है कि बिना इस दबाव के विप्लव अगर चाहता तो रेखा के भीतर ही रंग सिमटे हुए रहते, जैसा कि चित्र का दाहिना भाग बखूबी दिखा रहा है। दाएँ, बाएँ में यह अन्तर उस सम्बन्ध को भी दिखाता है, उस जीवन को भी, जिसमें यह बालक स्नेह और दुलार का पात्र है। उसे कभी ऐसी पुस्तिका नहीं दी गई होगी जिसमें आकृति के भीतर रंग सफाई से भरने का दबाव बच्चे पर डाला जाता है, उस उम्र से पहले जिसमें इस कौशल का विकसित हो जाना स्वाभाविक माना जाता है।

बहरहाल, इस चित्र के बनने की प्रक्रिया में कुछ और भी जुड़ना बाकी है। इसे पूरा कर विप्लव ने इसे गौर से देखा और अन्त में कुछ सोचकर अपने प्यारे-से उल्लू की आँख में काजल लगा दिया। फिर तपाक से शीर्षक दे दिया "—— मौसी ने काजल लगाई"।

उस कलाकार ने अपनी मौसी के और चित्र भी बनाए थे। उनमें से एक चित्र को अब वयस्क हो चुके इस कलाकार के लिए कुछ मित्र ने अब तक सम्भालकर रखा हुआ है। उस चित्र में भी मौसी कुछ-कुछ वैसी ही हरी-पीली छींट पहने हुए थी, लेकिन वह मनुष्य थी – कोई पशु-पक्षी नहीं। उल्लू मौसी के इस चित्र के सिलसिले में मौसी इतने साल बाद भी एक बात समझ नहीं पाई। आखिर वह कैसा रिश्ता रहा होगा जिसके चलते बालक के मन में बसी दो प्रिय छवियाँ एक हो गई होंगी – उल्लू और मौसी।

मौसी एक और बात भी अच्छे से समझ नहीं पाई। उस कलाकार से बहुत-बहुत सालों के लिए बिछुड़ जाने के बाद इंसान और परिन्दे के बीच इतनी कम दूरी उसने फिर कभी महसूस की।

इतना समय गुज़र गया इस बात को, लेकिन अभी तक वह रोज़ काजल लगाते समय उल्लू को याद कर लेती है। और इस तरह वह इस चित्र के जीवन के भीतर अभी तक रहती है। धीरे-धीरे स्मृतियों को पिरोती हुई वह ममता से भरी मौसी कुछ-कुछ उल्लू भी हो ही गई है।

– तेजी ग्रोवर

*कवि, चित्रकार*

जोजो आचार्य

**यह** चित्र शहर की सच्चाई की तस्वीर पेश करता है। सोचती हूँ कि यह ज़रूरी भी है ताकि लोगों को एहसास हो कि कूड़े के ढेर अब हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का एक हिस्सा बन चुके हैं। ऐसे चित्र हमें अपने आसपास की दुनिया के बारे में सोचने को मजबूर करते हैं।

चित्रकार ने यह चित्र इसलिए नहीं बनाया कि वो देखनेवाले को अच्छा लगे, बल्कि वो विचारशील बने शायद इसलिए बनाया है।

– मंजुला पद्मनाभन

**इस** चित्र में शतरंज का होना मुझे अनूठा लगा। कलाकार ने शतरंज क्यों बनाया होगा? क्या वो शतरंज खेलती है या वो समझती भी है कि आखिर शतरंज है क्या बला – उसकी बाज़ी, मोहरें और राजनीति। फिर शतरंज पर कुत्ता क्यों है? वह भी कोई प्यारा-सा कुत्ता तो है नहीं। उसके पैने नाखून दीखते हैं, आँखें सुर्ख लाल हैं। काले पर लाल-पीला पट्टा भयानक दाँतों का-सा आभास दे रहा था। यहाँ तक कि मूँछें भी दिखती हैं। हालाँकि चित्र में वो फर्श पर लेटा दिखता है पर मुझे लगता है दरअसल वो चल ही रहा है। इस तरह का कुत्ता शतरंज पर होना, लगता है चित्रकार शतरंज की सब बाज़ी-बिसात समझता है।

काले-सफेद खाँचों पर काला तिरछा फैला हुआ कुत्ता इस चित्र को खूब काला बना देता है और अधिक नाटकीय भी। चित्र में रंग चयन भी विचित्र है – कहते हैं बच्चे तो रंगों की छटा पसन्द करते हैं यूँ श्वेत-श्याम उनकी पसन्द नहीं होती। ये पूरा कम्पोज़ीशन ही बेहद सधे हाथों से खूब सोच-विचार कर बनाया गया जान पड़ता है, हर चीज़, लकीर, रंग, आकार पहले से निश्चित दिखते हैं। जैसे कलाकार के मन में साफ-साफ कुछ था। भयानकता भी सोची, समझी फिर चित्र में गढ़ी हो। ये चित्र किसी उल्लास का नहीं है – एक सनसनी पैदा करता है – भय, टेंशन।

एक कथा समाहित है इसमें जैसे ये कुत्ता एक डॉन है जो अपने महल में बेसब्र गुस्से से टहलते हुए किसी दुश्मन का इन्तज़ार कर रहा है। इस कुत्ते का एक खास चरित्र है और शतरंज के फर्श का भी। कुत्ते के इस फर्श पर इस तरह चलने के पीछे कोई राज़ छिपा है। यह कहीं किसी बहुत खास वजह से जा रहा है, इसके इरादे अभी पूरे नहीं हुए हैं।

– निधि सक्सेना

वसुन्धरा अरोरा, चौथी, दिल्ली, नवम्बर 2009 में प्रकाशित

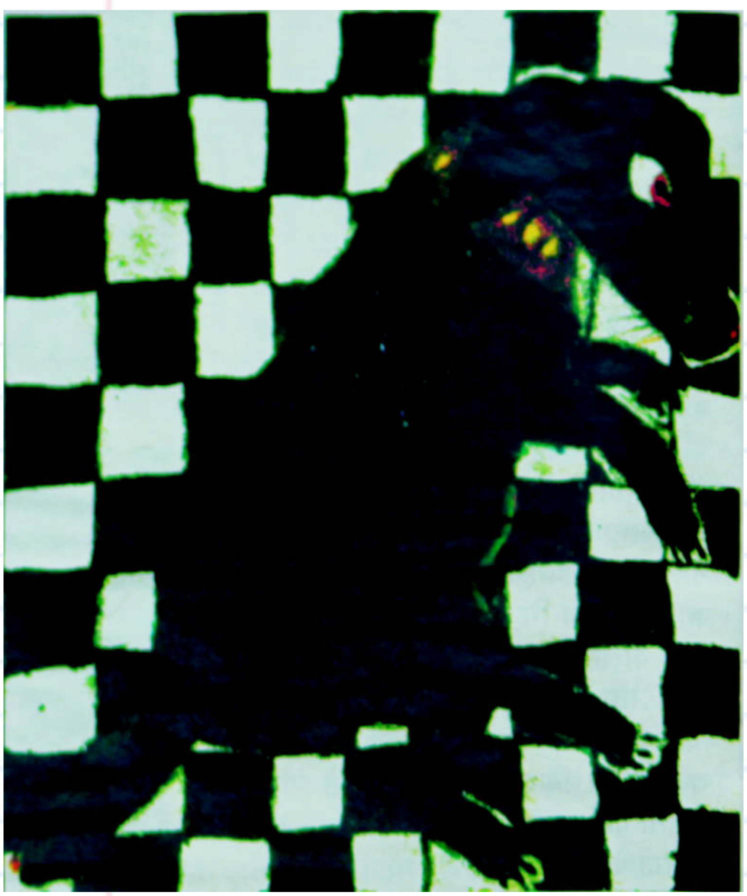

**पहली** नज़र में इस चित्र से ज़्यादा डर नहीं लगता। राक्षस काफी खूँखार तो है, पर भले ही उसकी आँख खुली हो – वह सोया हुआ है। तभी तो हाथ-पैर सब लुँज-पुँज हैं। अब सोते हुए राक्षस से क्या डरना? राक्षस सोते भी तो सघन हैं।

पहली नज़र के बाद वाली दूसरी नज़र में पता चलता है कि राक्षस सो भी रहा है और जाग भी रहा है। दूसरी नज़र से मेरे देखते-देखते एक बेजान चादर से तेज़ नाखूनोंवाला राक्षस "पैदा" हो रहा है। देखते-देखते काले चौकोर खानों से काला राक्षस बन रहा है जिसमें सफेद खानों का खून बह रहा है ।

वसुन्धरा अरोरा के चित्र को मैं अब तीसरी नज़र से देखता हूँ। राक्षस अँगड़ाई लेकर उठा है। उसकी आँख और नथुने और भी लाल हैं। यह लाल चादर से नहीं उसके ज़िन्दा होने से है। राक्षस ऐसे उठकर चल देता है जैसे कोई अधूरा काम पूरा करना हो। झक्क सफेद चादर ज़मीन पे पड़ी रह जाती है । लाल-पीले-काले रंग की जिस दरी पर बैठकर मैं यह चित्र देख रहा हूँ – एक अजगर उसके नीचे कुलबुलाता है। असली डर तो तीसरी नज़र में ही लगता है।

– सतीनाथ षडंगी

*विभिन्न सामाजिक मुद्दों पर काम। भोपाल गैस त्रासदी के पीड़ितों के हकों के लिए लम्बी लड़ाई की अगुवाई।*

# कर सकें तो बस इतना करें कि...

**एक** महीने से ऊपर हो चुका है जब आपने मुझसे बच्चों के चित्रों पर कुछ लिखने को कहा था। मैंने आपसे कहा भी था कि लिखना मेरे वश की बात नहीं। फिर भी आपका आग्रह मेरे अन्दर बना रहा कि शायद मेरा मन बदल जाए! लेकिन नहीं! वो ज़रा भी न बदला। अलबत्ता इस दौरान मैं यह और अच्छे से जान पाया कि वो क्या है जो मुझे यह लिखने से रोकता है। मेरे इस रवैये को गलत समझा जा सकता है। पर ईमानदारी से कहता हूँ कि मेरा मन इन मासूम बच्चों की इन सुन्दर-सरल कलाकृतियों पर लिखने से मुझे रोकता है। उसे यह बिलकुल गवारा नहीं। बच्चों के देखने का उनका एक अलग और विशिष्ट तरीका होता है। क्या यह बेहतर नहीं होगा कि उन्हें अकेला छोड़ दिया जाए और उनकी उस असाधारण दृष्टि को जो उन्होंने कागज़ पर उकेरी है उसका आनन्द लिया जाए? हम आखिर क्यों उनकी सहज अभिव्यक्ति और आज़ादी पर अपनी टिप्पणी कर उसकी मासूमियत भंग करें? दूसरी तरफ हम सब जानते हैं कि हर बच्चा बेहद – अपनेपन – से आसपास की दुनिया को देखता और समझता है। ऐसे में उनकी रचनाओं में से किसी एक को ज़्यादा महत्व देते हुए छाँटना मुझे सहज प्रकृति से भेदभाव करने-सा लगता है। और फिर हम यह तो मानते ही हैं कि हर बच्चे की कृति अपने में अलग और अनूठी होती है। तो ऐसे में हम वयस्क या बच्चों की रचनात्मक अभिव्यक्ति के ज़रिए उन्हें प्रोत्साहित करने की इच्छा रखनेवाले क्या करें? मेरे ख्याल में तो बस यही कि उन्हें ज़्यादा से ज़्यादा ऐसे मौके मिलें जहाँ वे खुले मन से, खुशी से चित्र बनाएँ और खूब चित्र बनाएँ। हम वयस्क बच्चों की अनगढ़, मासूम अभिव्यक्ति में खुशी पाते हैं। पर धीरे-धीरे बच्चों के जीवन का यह मासूमियत भरा समय घटता जा रहा है। इसका एक बड़ा कारण हम बड़ों की दुनिया का जाने-अनजाने उनकी दुनिया में, उनके समय में प्रवेश करना है। हम उन्हें जाने-कितने और किस-किस तरह के मौके (एक्सपोज़र) उपलब्ध कराते चले जा रहे हैं। कि उनके जीवन में अब कोई अवकाश नहीं रहा।

अगर हम कर सकें तो बस इतना करें कि उनके बचपने को कतरकर छोटा न करें। उनके कुदरती रचनात्मक जज़्बे को खुला छोड़ दें। उनकी कला पर अपनी बौद्धिक टिप्पणियाँ करने की बजाय उनकी रचनात्मकता के लिए जगह बनाएँ। उनके तमाम चित्रों को एक क्रम में विषय के मुताबिक वर्गीकृत करें और प्रकाशित करें।

– बी वी सुरेश

*चित्रकार, कला शिक्षक*

# राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत

# के उत्कृष्ट बालोपयोगी प्रकाशन

### देश के लिए कुर्बान

**आर.के.टंडन**

अनु.: मुरारी शरण

देश की आजादी के लिए कुर्बान हो गए 16 सेनानियों के जीवन संघर्ष की गाथा। इनमें भगत सिंह, अशफाक उल्ला खां, हेमू कालानी, मदनलाल ढींगरा, मंगल पांडे आदि शामिल हैं।

मूल्य : 105.00

### दुमदार कहानी

**एस.सी.गेब्रियल**

अनु.: रमेश बक्षी

एक चूहे की कहानी जो अपनी दुम कट जाने पर उसे दोबारा पाने के लिए आसमान सिर पर उठा लेता है।

मूल्य : 25.00

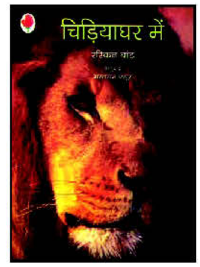

### चिड़ियाघर में

**रस्किन बॉन्ड**

अनु.: मस्तराम कपूर

चिड़ियाघर में आमतौर पर पाए जाने वाले पशु-पक्षियों के बारे में रोचक शब्द-चित्र प्रस्तुत करने वाली पुस्तक। प्रसिद्ध छायाकार रघुराय के जीवंत छायाचित्रों से सज्जित।

मूल्य : 25.00

### डाक टिकट की कहानी

**सत्य प्रसाद चटर्जी**

अनु.: प्रेमनाथ चतुर्वेदी

बच्चों को डाक टिकट संग्रह के बारे में आवश्यक जानकारी देने वाली एक मार्गदर्शक पुस्तक। महत्वपूर्ण डाक टिकटों के रंगीन तथा सादे चित्रों सहित।

मूल्य : 25.00

### मेरी चुंबकीय उत्तरी ध्रुव यात्रा

**प्रीति सेनगुप्ता**

अनु.: बृजमोहन गुप्त

लेखिका द्वारा की गई चुंबकीय उत्तरी ध्रुव यात्रा का रोमांचपूर्ण वर्णन। मनोरंजन के साथ ही महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करना इस पुस्तक की विशेषता है।

मूल्य : 20.00

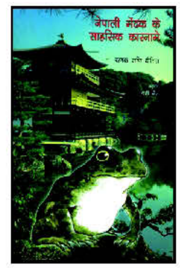

### नेपाली मेंढक के साहसिक कारनामे

**कनक मणि दीक्षित**

अनु.: शशी जैन

भक्तप्रसाद भ्यागुतो काठमांडू का एक नौजवान मेंढक था। इस मेंढक के साहसिक कारनामों के विवरण को पढ़ना बेहद आह्लादकारी और मनोरंजक लगता है।

मूल्य : 30.00

### गली मोहल्लों के कुछ खेल

**मुल्कराज आनंद**

अनु.: रमेश बक्षी

मूल्य : 30.00

भारतीय गली-मोहल्लों में बच्चों द्वारा खेले जाने वाले कुछ खेलों की मनोरंजक जानकारी।

### हमने खोजी नई कहानी

**विभा देवसरे**

मूल्य : 45.00

पृथ्वी के पर्यावरणीय संरक्षण का संदेश देता बाल नाटक। मंचन योग्य एकांकी जानकारी देता है कि धरती के प्राकृतिक संसाधन सीमित हैं और उनका अंधाधुंध इस्तेमाल कई समस्याओं का कारक बन सकता है।

### दो हास्य एकांकी

**रवीन्द्रनाथ ठाकुर**

अनु.: अमर गोस्वामी

मूल्य : 30.00

रोचक हास्य एकांकियाँ जो आपको कभी हतप्रभ कर देंगी तो कभी विस्मित। अनुवाद ने कथ्य को मौलिकता प्रदान की है।

आप ने.बु.ट्र. वेबसाइट के माध्यम से हमारी पुस्तकों को खरीद सकते हैं। www.nbtindia.gov.in

**राष्ट्रीय पुस्तक न्यास की पुस्तकें यहाँ उपलब्ध हैं :**

nbt.india
एकः सूते सकलम्

मुख्य कार्यालय

**राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत**

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II, बसंत कुंज, नई दिल्ली-110070 (भारत)

दूरभाष : 91-11-26707700 ▌ फैक्स : 91-11-26707846

नई दिल्ली । मुंबई । बेंगलुरु । कोलकाता । चेन्नई । हैदराबाद । गुवाहाटी । अगरतला । पटना

चित्र पहेली
बाएँ से दाएँ
ऊपर से नीचे
डबरा
DABRA
(Duplicate) GOLMURI SO (831003)
RL A 7137
Counter No:1,OP-Code:01
To:REGISTRAR,NEHRU INST,OF MOUNTAINEERING
UTTAR KASHI, PIN:249193
Wt:60grams,
PS:30.00,Amt:2.00 , 28/07/2006 , 12:41:57
HAM RADIO USEFUL IN EMERGENCY
भारतीय डाक
INDIA POST
સુરત
सूरत
SURAT

RNI क्र. 50309/85 डाक पंजीयन क्र. म.प्र. / 261 / भोपाल / 2012-14

# एक बात कहो

लाल्टू

एक बात कहो जो धरती जितनी बड़ी हो
एक बात कहो जो बारिश जैसी गीली हो
एक बात कहो जो माँ जैसी सुन्दर हो
एक बात कहो जो संगमरमर हो

एक बात कहो जो आग जैसी गर्म हो
एक बात कहो जो पानी जैसी नर्म हो
एक बात कहो जो बादल बादल हो
एक बात कहो जो बिलकुल पागल हो

बात जो दिन हो रात हो
बात जो बातों की बात हो
बात इक ऐसी बेबात हो
एक बात कहो एक बात कहो।

चित्रः चन्द्रमोहन कुलकर्णी



प्रकाशक एवं मुद्रक अरविन्द सरदाना द्वारा स्वामी रैक्स डी रोज़ारियो के लिए एकलव्य, ई-10, शंकर नगर, 61/2 बस स्टॉप के पास, भोपाल 462016, म.प्र. से प्रकाशित एवं आर. के. सिक्युप्रिन्ट प्रा. लि. प्लॉट नम्बर 15-बी, गोविन्दपुरा इंडस्ट्रियल एरिया, गोविन्दपुरा, भोपाल - 462021 (फोनः 0755 - 2687589) से मुद्रित।
सम्पादकः सुशील शुक्ल